श्रीअरविंद

गीता की भूमिका

H
294.184 1 Au 68
G

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी

H
294.184 1
Au 68 G

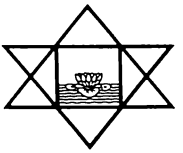

श्रीअरविन्द

गीता की भूमिका

श्रीअरविन्द सोसायटी
पांडिचेरी

प्रथम संस्करण : १९८३
पुनर्मुद्रित : १९८९, १९९९

मूल्य : रु० २५.००

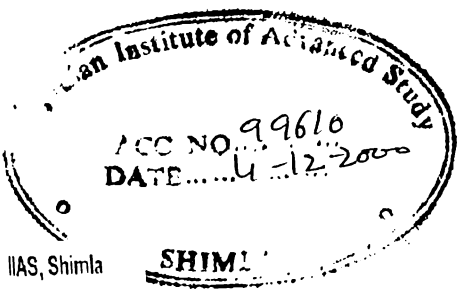

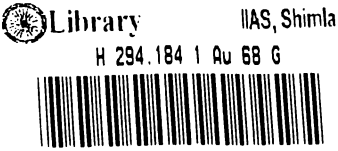

N 81-7060-032-4

© श्रीअरविन्द आश्रम ट्रस्ट १९९९
प्रकाशक : श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी - २
मुद्रक : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पांडिचेरी - २

विषय-सूची

गीता का धर्म	५
संन्यास और त्याग	९
विश्वरूप दर्शन	१४
गीता का विश्वरूप	१४
साकार और निराकार	१५
विश्वरूप	१६
कारण जगत् का रूप	१७
दिव्य चक्षु	१७
गीता की भूमिका	१९
प्रस्तावना	१९
वक्ता	२०
पात्र	२३
अवस्था	२७
प्रथम अध्याय	३३
संजय को दिव्य चक्षु की प्राप्ति	४२
दुर्योधन का वाक्चातुर्य	४५
पूर्व-सूचना	४७
विषाद का मूल कारण	४९
वैष्णवी माया का आक्रमण	५०
वैष्णवी माया का लक्षण	५२
वैष्णवी माया की क्षुद्रता	५३
कुलनाश की बात	५५
विद्या और अविद्या	५६
श्रीकृष्ण का राजनीतिक उद्देश्य	६१
भ्रातृवध और कुलनाश	६५
श्रीकृष्ण की राजनीति का फल	६८

द्वितीय अध्याय ७२
श्रीकृष्ण का उत्तर ७२
करुणा और दया ७३
शिक्षा के लिये अर्जुन की प्रार्थना ७६
मृत्यु की असत्यता ८३
मात्रा ८५
समभाव ८६
समता का गुण ८७
दुःख पर विजय ८७

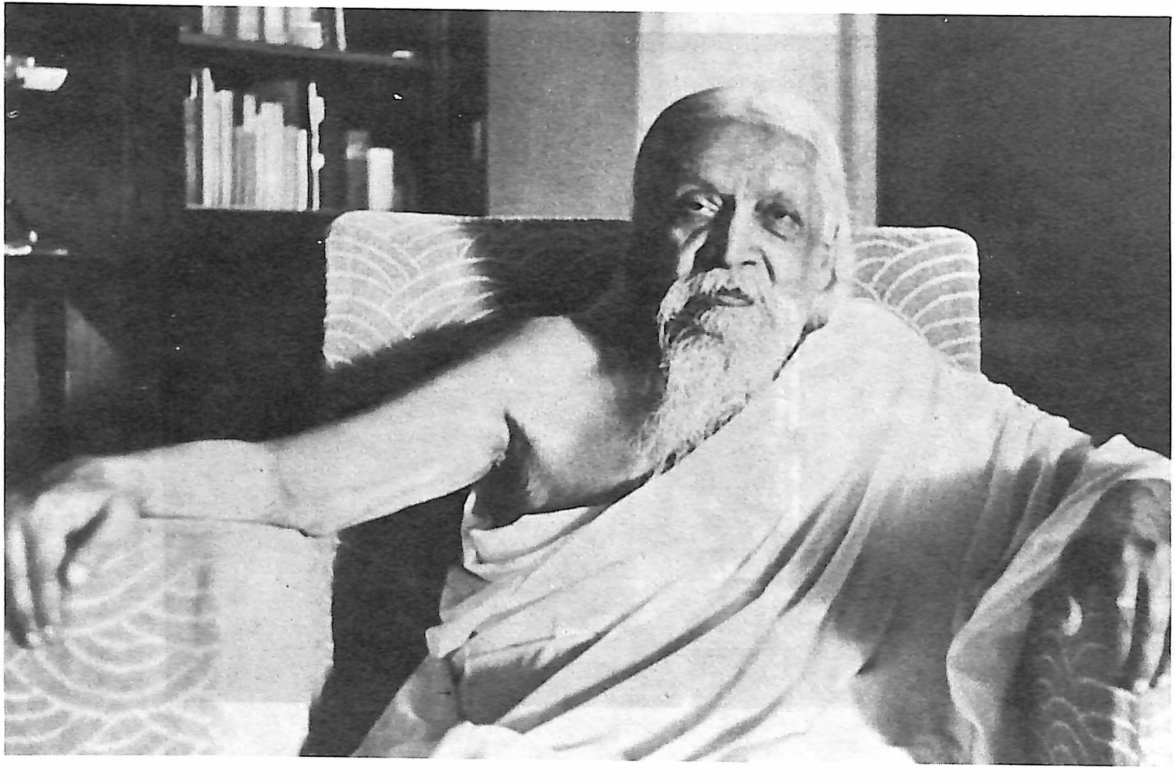

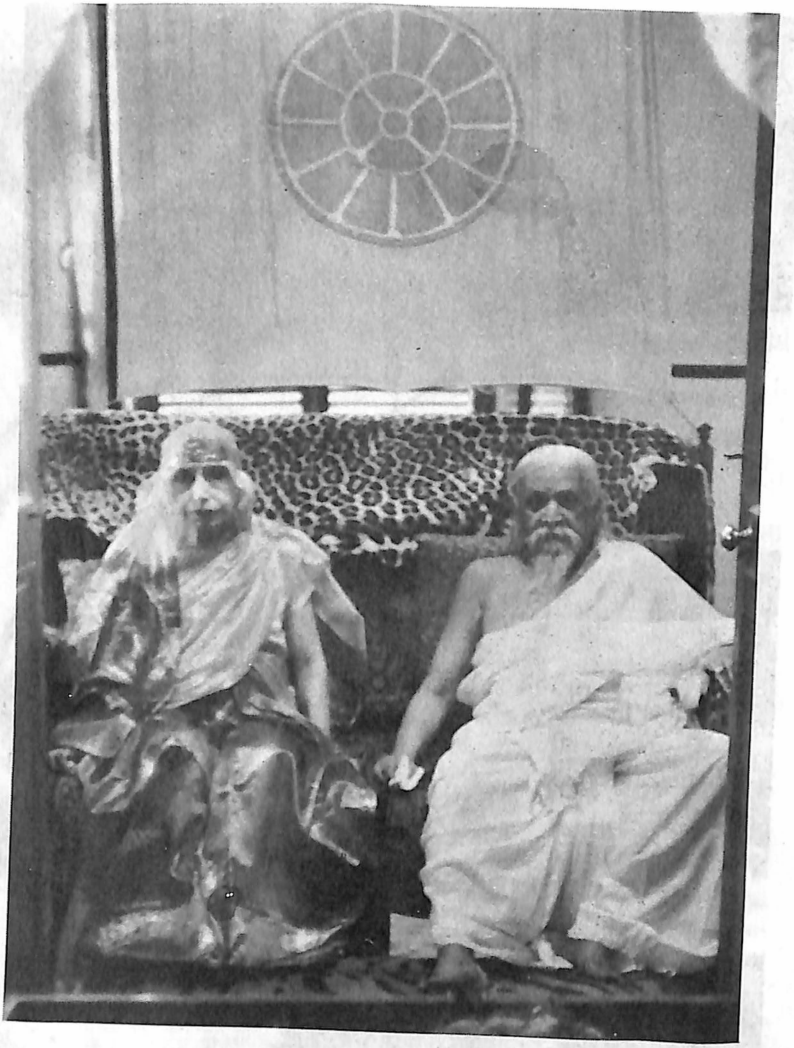

गीता का धर्म

जिन लोगों ने मन लगाकर गीता पढ़ी है उनके मन में यह प्रश्न उठा होगा कि भगवान् श्रीकृष्ण ने जिस योग शब्द का उपयोग किया है और जिस युक्तावस्था का वर्णन किया है वह उस चीज से मेल नहीं खाता जिसे जनसाधारण योग कहते हैं, श्रीकृष्ण ने जगह-जगह संन्यास की प्रशंसा की है और अनिर्देश्य परब्रह्म की उपासना की ओर निर्देश किया है परन्तु उनकी बात बहुत संक्षेप में कहकर, गीता का अधिकतर भाग त्याग के महत्त्व और वासुदेव के प्रति श्रद्धा रखने और उनके प्रति आत्मसमर्पण की परम अवस्था के विविध उपाय अर्जुन को समझाने में लगाया है। छठे अध्याय में राजयोग का कुछ वर्णन है किन्तु गीता को राजयोग का ग्रंथ नहीं कहा जा सकता। समता, अनासक्ति, कर्मफलत्याग, श्रीकृष्ण के प्रति सम्पूर्ण आत्म-समर्पण, निष्काम कर्म, गुणों के परे जाना और स्वधर्म सेवा, यही गीता के मूल तत्त्व हैं। भगवान् ने इसी शिक्षा को परम ज्ञान और गूढ़तम रहस्य कहा है। हमें विश्वास है कि गीता ही जगत् के भावी धर्म का ऐसा ग्रंथ है जिसपर सब लोग सहमत हों। परन्तु सब लोग गीता का स्वाभाविक अर्थ नहीं समझ पाते। बड़े-बड़े पंडित और श्रेष्ठ मेधावी, तीक्ष्ण बुद्धिवाले लेखक भी इसका गूढ़ अर्थ समझने की क्षमता नहीं रखते। एक ओर मोक्ष चाहनेवाले भाष्यकार गीता में अद्वैतवाद और संन्यास-धर्म की श्रेष्ठता पाते हैं और दूसरी ओर अंग्रेजी दर्शन में पगे हुए बंकिमचन्द्र गीता में केवल वीर भाव से कर्तव्य-पालन का उपदेश पाते हैं और उन्होंने यही अर्थ तरुणों के हृदय में घुसाने का प्रयास किया है। इसमें सन्देह नहीं कि संन्यास-धर्म श्रेष्ठ धर्म है लेकिन इस धर्म का पालन अधिक लोग नहीं कर पाते। सार्वजनिक धर्म, जो सबको मान्य हो उसका आदर्श और उसकी तत्त्व-शिक्षा के लिये यह आवश्यक है कि जनसाधारण उसे अपने निजी जीवन और अपने कर्मक्षेत्र में सिद्ध कर सके और साथ ही पूरी तरह उस आदर्श को आचरण में लाने पर

लोग परम गति को पा सकें, जो कुछ ही लोग पा सकते हैं। वीर भाव से कर्तव्य-पालन करना उत्कृष्ट धर्म तो है परन्तु कर्तव्य क्या है इसी जटिल प्रश्न को लेकर धर्म और नीति में बड़ी धांधली मची है। भगवान् ने कहा है *गहना कर्मणो गतिः*—क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य, क्या कर्म है, क्या अकर्म और क्या विकर्म, इसका निर्णय करने में तो ज्ञानी लोग भी चकरा जाते हैं। लेकिन मैं तुम्हें ऐसा ज्ञान दूंगा जिससे तुम्हें अपने लक्ष्य का निर्णय करने में कोई कठिनाई न होगी, कर्म जीवन का लक्ष्य है और जिस नियम का हमेशा पालन करना है वह एक ही बात में स्पष्ट हो जायेगा। यह ज्ञान क्या है? यह लाख बातों की एक बात क्या है और कहां मिलेगी? हमें विश्वास है कि गीता के अन्तिम अध्याय में जहां भगवान् ने अपना गुह्यतम परम कर्तव्य बतलाने का वचन दिया है वहीं खोजने से यह दुर्लभ अमूल्य वस्तु मिल सकेगी। वह परम गुह्य वस्तु क्या है?

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

इन दो श्लोकों का अर्थ एक ही शब्द में किया जा सकता है और वह है 'आत्म-समर्पण'। जो भगवान् कृष्ण के प्रति जितना आत्म-समर्पण कर पाते हैं उनके शरीर में उसी अनुपात में भागवत शक्ति आकर उन्हें परम मंगलमय प्रसाद से पाप-मुक्त करके देवभाव प्रदान करती है। श्लोक के पहले भाग में उसी आत्म-समर्पण का वर्णन किया गया है। *तन्मना, तद्भक्त* और *तद्याजी* होना होगा। *तन्मना* का मतलब है सभी जड़ चेतन में उनके दर्शन करना, सदा उन्हींका स्मरण करना, सभी कार्यों और घटनाओं में उनकी शक्ति, उनके ज्ञान और प्रेम की लीला को देखते हुए परम आनन्द में रहना। *तद्भक्त* का अर्थ हुआ उनपर पूरी श्रद्धा और प्रीति रखते हुए उनके साथ एक होकर रहना। *तद्याजी* का मतलब हुआ, अपने

छोटे-बड़े सभी कर्मों को श्रीकृष्ण के प्रति यज्ञ के रूप में अर्पित करना और स्वार्थ तथा कर्मफल की आसक्ति छोड़कर उन्हींके लिये कर्तव्य कर्म में लगे रहना। मनुष्य के लिये पूरा-पूरा आत्म-समर्पण करना कठिन है, लेकिन थोड़ा-सा भी प्रयास किया जाये तो भगवान् अभय दान देकर गुरु, रक्षक और सुहृद् के रूप में योगमार्ग पर आगे बढ़ाते हैं। *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्*। उन्होंने कहा है कि इस धर्म का पालन करना सहज और सुखद है। वास्तव में ऐसा ही है। अगर पूरी तरह से आचरण किया जाये तो उसका फल होता है अनिर्वचनीय आनंद, शुद्धि और शक्ति की प्राप्ति। *मामेवैष्यसि* का मतलब है मुझे प्राप्त करोगे, मेरे साथ निवास करोगे, मेरी प्रकृति को प्राप्त करोगे। उनकी इस बात में सादृश्य, सालोक्य और सायुज्य फल की बात आ गयी। जो गुणातीत हैं वही भगवान् का सादृश्य पाते हैं। उनमें कोई आसक्ति नहीं रहती फिर भी वे कर्म करते हैं, पापमुक्त होकर महाशक्ति के आधार बन जाते और इस शक्ति के सभी कार्यों में आनन्द लेते हैं। सालोक्य भी केवल शरीर छोड़ने के बाद की गति नहीं है, इस शरीर में भी सालोक्य गति प्राप्त हो सकती है। शरीर में रहता हुआ जीव जब अपने अन्तर में परमेश्वर के साथ खेल करता है, मन उनके दिये ज्ञान से पुलकित होता है, हृदय जब उनके प्रेम के स्पर्श से आनंद-विभोर होता है, बुद्धि जब बार-बार उनकी वाणी सुनती है और प्रत्येक विचार में उन्हींकी प्रेरणा का अनुभव करती है तभी मानव शरीर में रहते हुए भगवान् के साथ सालोक्य प्राप्त होता है। सायुज्य भी इसी शरीर में होता है। गीता में भगवान् के अंदर निवास करने की बात कही गयी है। जब यह उपलब्धि स्थायी हो जाये कि 'सब जीवों में वही है', तब इंद्रियां उन्हींका दर्शन, श्रवण करती हैं। उन्हींको सूंघती, चखती और छूती हैं, जीव हमेशा उन्हींके एक अंश-रूप में जीने का अभ्यस्त हो जाता है। तब इसी शरीर में सायुज्य-प्राप्ति होती है। यह परम गति, परम चिंतन, मनन का फल है। लेकिन इस धर्म पर थोड़ा-सा भी आचरण किया जाये तो महान् शक्ति, निर्मल आनंद, पूर्ण सुख और शुद्धि की प्राप्ति होती है। यह धर्म विशेष गुणवाले लोगों के लिये नहीं है। भगवान् ने कहा है कि ब्राह्मण,

क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री, पुरुष यहांतक कि पापयोनि में पड़े सभी जीव तक इस धर्म द्वारा उन्हें पा सकते हैं। थोड़े ही समय में पापी भी उनकी शरण में आकर शुद्ध हो जाते हैं। इस धर्म पर सब चल सकते हैं। जगन्नाथ के मंदिर में जात-पांत का विचार नहीं होता। फिर भी इसकी परमगति किसी भी धर्म द्वारा प्राप्त परम अवस्था से कम नहीं होती।

संन्यास और त्याग

पिछले लेख में हम कह आये हैं कि श्रीकृष्ण के धर्म पर सभी लोग चल सकते हैं, गीता में बतलाये गये योग पर सभी का अधिकार है और उस धर्म की परम अवस्था अन्य किसी भी धर्म की परम अवस्था से कम नहीं है। गीता का धर्म निष्काम कर्म करनेवाले का धर्म है। हमारे देश में आर्यधर्म के पुनरुत्थान के साथ-ही-साथ एक संन्यासमुखी स्रोत चारों ओर फैल रहा है। राजयोग के साधक का मन सहज रूप में घर के काम-काज या गृहस्थ बनकर रहने से संतुष्ट नहीं रहना चाहता। उसके अभ्यास के लिये बड़े परिश्रम के साथ ध्यान-धारणा आदि की जरूरत है। मन में जरा भी विक्षोभ या बाहरी स्पर्श हो तो ध्यान-धारणा की स्थिरता विचलित हो जाती है या उसका एकदम विनाश हो जाता है। घर में इस तरह की बहुत बाधाएं होती हैं। अतः जो लोग अपने पिछले जन्म से ही योग के लिये इच्छा लेकर जन्मे हैं उनके लिये यह स्वाभाविक है कि वे तरुण अवस्था में ही संन्यास की ओर आकर्षित हों। इस भांति जब देश में इस तरह जन्म से ही योग की इच्छा लेकर पैदा होनेवालों की संख्या बढ़ जाये तब वह शक्ति देशभर में फैल जाती है और देश के युवावर्ग में संन्यासी होने की प्रवृत्ति प्रबल रूप से दिखायी देती है, देश के कल्याण के मार्ग का रास्ता भी खुल जाता है और उसके साथ ही विपक्ष की आशंका भी बढ़ जाती है। कहा गया है कि संन्यास-धर्म उत्कृष्ट धर्म है लेकिन इस धर्म के अधिकारी कम ही होते हैं। जो लोग अधिकार के बिना ही इस पथ पर चल पड़ते हैं वे कुछ दूर आगे बढ़कर आधे रास्ते में ही तामसिक निष्क्रियता के आनन्द के अधीन होकर निवृत्त हो जाते हैं। इस अवस्था में यह जीवन तो सुख से कट जाता है लेकिन इससे जगत् का कोई हित नहीं होता और योग के सबसे ऊंचे सोपान तक चढ़ना बहुत मुश्किल हो उठता है। हम लोग जिस काल और अवस्था में हैं उसमें रज और सत्व को जगाना अर्थात् क्रियाशीलता और ज्ञान को जगाना और तम का निषेध करते हुए देशसेवा और जगत्सेवा में जाति की आध्यात्मिक शक्ति और उसके नैतिक बल को नया जन्म देना

ही हमारा प्रधान कर्तव्य है। इस जीर्ण, शीर्ण, तमःपीड़ित, स्वार्थ की सीमा में बंधी आर्यजाति के गर्भ में से ज्ञानी, शक्तिमान, उदार आर्यजाति को फिर से जन्म लेना होगा। इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिये भारतवर्ष[१] में इतने विशिष्ट शक्तिवाले, योगबल से संपन्न जीवों का जन्म हो रहा है। अगर ये लोग संन्यास की मोहिनी शक्ति से आकर्षित होकर स्वधर्म त्याग कर, ईश्वर के द्वारा सौंपे हुए कर्म को त्याग दें तो धर्मनाश और जाति का विध्वंस हो जायेगा। तरुणों को याद रखना चाहिये कि ब्रह्मचर्याश्रम शिक्षा और चरित्र-गठन के लिये निर्धारित है। इस आश्रम के बाद गृहस्थाश्रम का विधान है। जब हम कुल रक्षा और भावी आर्यजाति का गठन करके पुराणों के ऋण से उऋण हो जायेंगे, जब सत्कर्म और धन संचय करके समाज का ऋण, ज्ञान, दया तथा प्रेम और शक्ति बांटकर जगत् का ऋण चुका देंगे, जब भारत जननी के हित के लिये उदार और महान् कर्म करके जगत् माता को संतुष्ट कर लेंगे तब वानप्रस्थ और संन्यास ग्रहण करना दोषपूर्ण न माना जायेगा। ऐसा न किया जाये तो धर्मसंकर और अधर्म की वृद्धि होगी। हम उन बाल-संन्यासियों की बात नहीं कर रहे जो पूर्वजन्म में ही ऋणमुक्त हो चुके परंतु अधिकार के बिना संन्यास लेना निन्दायोग्य है। अनुचित वैराग्य की अधिकता और क्षत्रियों की अपने धर्म को त्यागने की वृत्ति के कारण महान् और उदार बौद्धधर्म ने जहां देश का बहुत कुछ भला किया वहां अनिष्ट भी किया और अंत में भारत से निकाल बाहर कर दिया गया। नवयुग के नवीन धर्म में ऐसा दोष न घुसने पाये।

गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बार-बार संन्यास का आचरण करने से क्यों मना किया है ? उन्होंने संन्यास-धर्म के गुण स्वीकार किये हैं किन्तु वैराग्य और करुणा के वश पार्थ के बार-बार मांग करने पर भी अपने कर्म

[१] यहां पर मूल बंगला में 'बंग देश' कहा गया है। परंतु प्रथम हिन्दी अनुवाद करते समय श्री मदन गोपाल गाड़ोदिया के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीअरविन्द ने कहा था कि जब मैंने यह लिखा था तब मेरा कार्यक्षेत्र बंगाल में ही था इसलिये मैंने बंगाल कहा है। इस और इस जैसे अन्य स्थलों पर अनुवाद करते समय बंगाल की जगह भारत कर दिया जाये।—अनु०

मार्ग के आदेश को वापिस नहीं लिया। अर्जुन ने पूछा, यदि कर्म की अपेक्षा कामनारहित, योगयुक्त बुद्धि ज्यादा अच्छी है तो आप मुझे गुरुजनों की हत्या जैसे अति भीषण कार्य करने का आदेश क्यों दे रहे हैं ? बहुत लोगों ने अर्जुन के इस प्रश्न को बार-बार उठाया है। यहांतक कि कुछ लोग तो श्रीकृष्ण को निकृष्ट धर्मोपदेशक और कुपथ दिखानेवाला कहने से भी बाज नहीं आये। अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण ने समझाया कि संन्यास से त्याग ज्यादा अच्छा है। मनमाना आचरण करने से भगवान् को याद करते हुए निष्काम भाव से स्वधर्म का पालन करना श्रेष्ठ है। त्याग का अर्थ है कामना का त्याग, स्वार्थ का त्याग। उस त्याग की शिक्षा के लिये पर्वत या निर्जन स्थानों की शरण लेने की जरूरत नहीं। वह शिक्षा कर्म द्वारा कर्मक्षेत्र में ही मिलती है। कर्म ही योग-मार्ग पर चलने का साधन है। यह विचित्र लीलामय जगत् जीव के आनन्द के लिये बना है। भगवान् का यह उद्देश्य नहीं है कि यह आनंदमय खेल समाप्त हो जाये। वे जीव को अपना सखा और खेल का साथी बनाकर जगत् में आनंद का स्रोत बहाना चाहते हैं। खेल की सुविधा के लिये वे हमसे दूर चले गये हैं और इसी कारण जगत् अंधकार से घिरा रहता है। उनके बतलाये हुए ऐसे अनेक उपाय हैं जिनका सहारा लेकर अंधकार से छुटकारा मिल सकता है और भगवान् के निकट आया जा सकता है। जो लोग उनकी लीला से विरक्त होते या विश्राम चाहते हैं वे उनकी अभिलाषा पूरी कर देते हैं। उन्हें भगवान् इहलोक और परलोक में अपने खेल का साथी बनाते हैं। अर्जुन श्रीकृष्ण के प्रियतम सखा और खेल के साथी थे इसीलिये उन्हें गीता की गूढ़तम शिक्षा समझाने का इससे पहले भी प्रयास किया है। भगवान् ने अर्जुन से कहा है कि कर्मसंन्यास जगत् के लिये हानिकर है और त्यागहीन संन्यास केवल छलना। संन्यास से जो फल मिलता है त्याग से भी वही फल प्राप्त होता है अर्थात् अज्ञान से मुक्ति, समता, शक्तिलाभ, आनन्द और श्रीकृष्ण की प्राप्ति। सर्वमान्य लोग जो कुछ करते हैं, सामान्य लोग उसीको आदर्श मानकर उसीके अनुसार चलते हैं, अतः अगर तुम कर्म से संन्यास ले लोगे तो सभी उसी पथ के पथिक होकर धर्म की संकरता और अधर्म की

प्रधानता पैदा करेंगे। तुम कर्मफल की इच्छा छोड़कर मनुष्य के साधारण धर्म का आचरण करो। आदर्शस्वरूप होकर सभीको अपने-अपने कर्मपथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा दो, ऐसा करने से तुम मेरे साधर्म्य को प्राप्त करोगे और मेरे प्रियतम सुहृद् बनोगे। इसके बाद उन्होंने बतलाया कि इस कर्म द्वारा श्रेयमार्ग पर चलते हुए उस मार्ग की चरम अवस्था शम या सर्वारंभ परित्याग (अपनी ओर से आरंभ न करके भगवान् पर ही छोड़ना) की बात कही गयी है। यह भी कर्मसंन्यास नहीं बल्कि अहंकार का त्याग है। यह बहुत प्रयास के साथ किये गये राजसिक कर्म का त्याग और भगवान् के साथ एक होकर गुणों के परे जाना और भगवान् की शक्ति से चलनेवाले उनके यन्त्र की तरह बनकर काम करना है। उस अवस्था में जीव को यह स्थायी ज्ञान प्राप्त रहता है कि मैं कर्ता नहीं हूं, मैं द्रष्टा हूं, भगवान् का एक अंश हूं। मेरे स्वभाव से बने इस शरीर-रूप कर्म के आधार में भगवान् की शक्ति ही लीला का काम कर रही है। जीव केवल साक्षी और भोक्ता है, प्रकृति कर्ता है और भगवान् हैं स्वीकृति देनेवाले। ऐसे ज्ञानी पुरुष शक्ति के किसी भी कार्य के आरम्भ में कामना द्वारा सहायता या बाधा देना पसंद नहीं करते। शक्ति के अधीन होकर उनके देह, मन और बुद्धि ईश्वर के आदेश के अनुसार ही कर्म में लगते हैं। यदि कुरुक्षेत्र के भीषण हत्याकाण्ड के लिये भगवान् की अनुमति हो और वही स्वधर्म में आये तो निर्लिप्त बुद्धि से कामनारहित होकर ज्ञानी पुरुष को उसमें भी पाप नहीं छू जाता। लेकिन इस ज्ञान और आदर्श को बहुत कम लोग ही पा सकते हैं। यह जनसाधारण का धर्म नहीं बन सकता। तब फिर इस मार्ग के साधारण पथिक का कर्तव्यकर्म क्या है? साधारण मनुष्य भी एक परिमाण में यह ज्ञान पा सकता है कि भगवान् यंत्रचालक हैं और मैं यंत्र। साधारण आदमी के लिये यही आदेश है कि वह इस ज्ञान के बल पर भगवान् को याद करते हुए स्वधर्म का पालन करे।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

स्वभाव के अनुसार नियत कर्म ही स्वधर्म है। कालगति में ही स्वभाव की अभिव्यक्ति और परिणति होती है। कालगति में मनुष्य का जो साधारण स्वभाव बनता है वह स्वभाव द्वारा नियत कर्म युगधर्म है। जाति की कर्म-गति से जो स्वभाव बनता है वह स्वभाव से नियत कर्म जाति का धर्म है। साधारण धार्मिकों के लिये यही धर्म स्वधर्म है। ब्रह्मचर्यावस्था में इसी धर्म का पालन करने के लिये शक्ति-संचय किया जाता है, गृहस्थाश्रम में इस धर्म का पूरा अनुष्ठान होता है और धर्म का पूरा अनुष्ठान होने पर वानप्रस्थ या संन्यास पर अधिकार प्राप्त होता है। यही है धर्म की सनातन गति।

विश्वरूप दर्शन

गीता का विश्वरूप

हमारे श्रद्धेय बंधु बिपिनचंद्र पाल अपने लेख 'वंदे मातरम्' में प्रसंगवश कहते हैं कि गीता के ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूप दर्शन के बारे में जो कुछ लिखा है वह पूरी तरह असत्य और कवि की कल्पना मात्र है। हम इस बात का विरोध करने के लिये बाधित हैं। विश्वरूप दर्शन गीता का अत्यन्त उपयोगी भाग है। अर्जुन के मन में जिस दुविधा और संदेह ने जन्म लिया था उसका श्रीकृष्ण ने ज्ञानगर्भित बातें कहकर निराकरण तो कर दिया परंतु तर्क और उपदेश द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह दृढ़ नींववाला नहीं होता। दृढ़ज्ञान वही होता है जो उपलब्ध हुआ हो। इसीलिये अर्जुन ने अंतर्यामी की गुप्त प्रेरणा से विश्वरूप का दर्शन करने की इच्छा प्रकट की। विश्वरूप के दर्शन से अर्जुन का संदेह हमेशा के लिये गायब हो गया, बुद्धि शुद्ध होकर गीता के परम रहस्य को ग्रहण करने योग्य हो गयी। गीता में विश्वरूप दर्शन से पहले जो ज्ञान दिया गया था वह साधकों के लिये उपयोगी ज्ञान का बाहरी रूप था। विश्वरूप दर्शन के बाद जो ज्ञान दिया गया वही ज्ञान गूढ़ सत्य, परम रहस्य और सनातन शिक्षा है। अगर हम इस विश्वरूप दर्शन को कवि की उपमा कह दें तो गीता की गंभीरता, सचाई और गहराई नष्ट हो जायेगी और योग से प्राप्त गंभीरतम शिक्षा कुछ दार्शनिक मतों या कवियों की कल्पना में बदल जायेगी। विश्वरूप दर्शन कवि की कल्पना नहीं है, उपमा नहीं है, ठोस सत्य है, अतिप्राकृत सत्य नहीं क्योंकि विश्व प्रकृति के अंतर्गत है इसलिये विश्वरूप अतिप्राकृतिक नहीं हो सकता। विश्वरूप कारण जगत् का सत्य है। कारण जगत् का रूप दिव्य चक्षु से ही दिखायी देता है इसलिये दिव्य चक्षु प्राप्त अर्जुन ने विश्वरूप के दर्शन किये।

साकार और निराकार

जो निर्गुण निराकार ब्रह्म के उपासक हैं वे गुण और आकार की बात को उपमा कहकर उड़ा देते हैं और जो सगुण निराकार ब्रह्म की उपासना करते हैं वे शास्त्रों की और ही तरह से व्याख्या करके निर्गुणत्व को अस्वीकार करते हैं और आकार को रूपक और उपमा कहकर उड़ा देते हैं। सगुण साकार ब्रह्म के उपासक इन दोनों पर ही तलवार खींचे रहते हैं। हम इन तीनों मतों को संकीर्ण और अपूर्ण मानते हैं क्योंकि जिन्होंने साकार और निराकार द्विविध ब्रह्म को पाया है वे भला एक को सत्य और दूसरे को असत्य कल्पना कहकर, ज्ञान के अंतिम प्रमाण को नष्ट कर सकते हैं, असीम ब्रह्म को सीमा के अधीन ला सकते हैं ? अगर हम ब्रह्म के निर्गुणत्व, निराकारत्व को अस्वीकार करें तो हम भगवान् का मजाक करते हैं, यह सच है। लेकिन अगर हम ब्रह्म के सगुणत्व और साकारत्व को अस्वीकार कर दें तो भी हम भगवान् का मजाक उड़ाते हैं—यह बात भी उतनी ही सत्य है। भगवान् रूपों के कर्ता, स्रष्टा और अधीश्वर हैं, वे किसी रूप से बंधे नहीं हैं लेकिन जिस तरह वे आकार से बंधे नहीं हैं उसी तरह निराकारत्व से भी बंधे हुए नहीं हैं। भगवान् सर्व-शक्तिमान हैं, अगर हम उन्हें स्थूल प्रकृति के नियम अथवा देशकाल के नियमरूपी जाल में फंसाने का स्वांग रचकर यह कहें कि अगर तुम अनंत हो तो हम तुम्हें सांत न होने देंगे, कोशिश करके देख लो, तुम सांत न हो पाओगे। तुम हमारी अकाट्य तर्क-युक्तियों से बंधे हो, उसी तरह जैसे फर्डिनेंड प्रस्पेरो के इंद्रजाल में फंसा था। कैसी हास्यास्पद बात है ! कैसा घोर अहंकार और अज्ञान है ! भगवान् बंधनरहित हैं, निराकार और साकार दोनों हैं। साकार होकर साधक को दर्शन देते हैं, उस आकार में भी पूर्ण भगवान् रहते हैं, सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त रहते हैं। भगवान् देशकाल से परे हैं, तर्क की उन तक पहुंच नहीं है। देश और काल उनके खेल की सामग्री हैं, वे देश और काल के जाल फेंककर सभी प्राणियों को पकड़कर उनके साथ खेलते हैं लेकिन हम उन्हें उस जाल में नहीं पकड़ सकते। हम जब-जब तर्क और दार्शनिक युक्ति का प्रयोग करके असंभव

को संभव करने चलते हैं तब-तब वे रंगमय उस जाल को हटाकर हमारे सामने, पीछे, इधर-उधर, दूर, चारों ओर फैले हुए विश्वरूप और विश्वातीत रूप को फैलाकर बुद्धि को हरा देते हैं। जो कहता है कि मैंने उन्हें जान लिया है वह कुछ नहीं जानता, जो कहता है कि मैं मानता हूं कि मैं कुछ नहीं जानता वही सच्चा ज्ञानी है।

विश्वरूप

जो शक्ति के उपासक हैं, कर्मयोगी हैं, यंत्रचालक का यंत्र बनकर भगवान् के दिये हुए काम करने का आदेश पा चुके हैं उनकी दृष्टि में विश्वरूप का दर्शन पाना अत्यन्त आवश्यक है। विश्वरूप का दर्शन पाने से पहले भी उन्हें आदेश मिल सकता है लेकिन जबतक दर्शन लाभ न हो जाये तबतक आदेश ठीक तरह स्वीकृत नहीं होता, सामने आ तो जाता है पर ठीक तरह स्वीकृत नहीं होता। तबतक उनकी कर्म-शिक्षा और तैयारी का समय होता है। विश्वरूप का दर्शन हो जाने पर ही कर्म का आरंभ होता है। विश्वरूप दर्शन कई प्रकार का हो सकता है, यह साधना और साधक के स्वभाव पर निर्भर है। काली का विश्वरूप दर्शन होने पर साधक सारे संसार में अत्यन्त सुंदर नारी-रूप देखते हैं, देखते तो हैं एक ही को फिर भी उसके अनगिनत रूप होते हैं। सब जगह आकाश में घनी काली केशराशि छायी हुई है। सब जगह उसी रक्तरंजित खड्ग का प्रकाश आंखों को चुंधियाता हुआ नाच रहा है। जगद्व्यापी भीषण अट्टहास का वह स्रोत विश्व ब्रह्माण्ड को चूर-चूर कर रहा है। ये बातें कवियों की कल्पना नहीं हैं, प्रकृति से परे की उपलब्धि को, अपूर्ण मानव भाषा में प्रकट करने का असफल प्रयास नहीं हैं। यह काली का, हमारी मां का वास्तविक रूप, जो कुछ दिव्य चक्षु से दिखायी देता है उसीका, अतिशयोक्ति के बिना सरल, सच्चा वर्णन है। अर्जुन ने काली का विश्वरूप नहीं देखा। उन्होंने श्रीकृष्ण का कालरूप संहार का विश्वरूप देखा। बात एक ही है। उन्होंने बाहरी ज्ञान से अलग-थलग जाकर

समाधि में नहीं देखा, अर्जुन ने जो कुछ देखा, व्यासदेव ने उसीका ज्यों का त्यों वर्णन कर दिया। यह स्वप्न नहीं, कल्पना नहीं, सत्य और जाग्रत् सत्य है।

कारण जगत् का रूप

शास्त्रों में कहा गया है कि भगवान् में स्थित तीन अवस्थाएं हैं—प्राज्ञ अधिष्ठित सुषुप्ति, तेज या हिरण्यगर्भ अधिष्ठित स्वप्न और विराट् अधिष्ठित जाग्रत्। प्रत्येक अवस्था में एक-एक जगत् है। सुषुप्ति में कारण जगत् है, स्वप्न में सूक्ष्म जगत् और जाग्रत् में स्थूल जगत्। कारण जगत् में जो कुछ निर्णय होता है वह हमारे देशकाल से अतीत सूक्ष्म जगत् में छाया रूप में दिखलायी देता है और स्थूल में आंशिक रूप में हमारे स्थूल जगत् के नियमों के अनुसार संपन्न होता है, श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा, मैं धृतराष्ट्र के पुत्रों को पहले ही मार चुका हूं फिर भी स्थूल जगत् में धृतराष्ट्र के वे बेटे कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन के सामने जीते-जागते युद्ध के लिये तैयार खड़े थे। भगवान् की वह बात न तो झूठी है और न कोई अलंकार है। कारण जगत् में उन्होंने इनको मार दिया था अन्यथा उन्हें यहां पर मारना संभव न होता। हमारा सच्चा जीवन कारण जगत् में होता है, स्थूल में तो बस उसकी छाया ही पड़ती है। लेकिन कारण जगत् के नियम, देश, काल, रूप और नाम यहां से भिन्न होते हैं। विश्वरूप कारण जगत् का रूप है जो स्थूल में केवल दिव्य चक्षु के सामने प्रकट होता है।

दिव्य चक्षु

दिव्य चक्षु क्या है? यह कल्पना की आंख नहीं है। योग से प्राप्त दृष्टि तीन तरह की होती है—सूक्ष्म दृष्टि, विज्ञान चक्षु और दिव्य चक्षु। सूक्ष्म दृष्टि

से हम स्वप्न में या जागते हुए मानसिक मूर्तियों को देखते हैं। विज्ञान चक्षु से हम समाधि लगाकर सूक्ष्म जगत् और कारण जगत् के अंदर नाम रूपों की प्रतिमूर्तियों या छवियों को और सांकेतिक रूपों को चित्ताकाश में देखते हैं और दिव्य चक्षु से कारण जगत् के नामरूपों को प्राप्त करते हैं, इसे समाधि में या जाग्रत् अवस्था में भी देख सकते हैं। जो हमारी स्थूल इंद्रियों के लिये अगोचर है वह यदि गोचर हो जाये तो इसे दिव्य चक्षु का प्रभाव मानना चाहिये। अर्जुन दिव्य चक्षु के प्रभाव से जाग्रत् अवस्था में भगवान् के कारण जगत् के विश्वरूप को देखकर सब संदेहों से मुक्त हुए थे। वह विश्वरूप दर्शन भले स्थूल जगत् का गोचर सत्य न हो पर स्थूल सत्य से कहीं अधिक सत्य है, यह कल्पना, असत्य या उपमा नहीं है।

गीता की भूमिका :

प्रस्तावना

गीता जगत् की श्रेष्ठ धर्म-पुस्तक है। गीता में जिस ज्ञान की व्याख्या संक्षेप में की गयी है, वह चरम और गुह्यतम ज्ञान है। गीता में जिस धर्मनीति की बात कही गयी है, सभी धर्मनीतियां उसके अंदर आ जाती हैं और वही उनकी नींव है। गीता में जो कर्ममार्ग दिखलाया गया है वही कर्ममार्ग उन्नतिशील जगत् का सनातन मार्ग है।

गीता अनगिनत रत्नों को उत्पन्न करनेवाला अथाह सागर है। जीवन भर इस सागर की थाह लेते रहने पर भी इसकी गहराई का अनुमान नहीं लगाया जा सकता, उसकी थाह नहीं ली जा सकती। हजारों वर्ष खोजते रहने पर भी इस अनंत रत्नभंडार के हजारवें हिस्से को पाना भी कठिन है। लेकिन इसके दो-एक रत्न पाकर भी दरिद्र धनी बन जाते हैं, गंभीर विचारक ज्ञानी और भगवान् से विद्वेष करनेवाले उनके प्रेमी, बड़े पराक्रमी, शक्तिशाली, कर्मवीर अपने जीवन के उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये पूरी तरह सज्जित और तैयार होकर कर्मक्षेत्र में लौट आते हैं।

गीता मणियों की अक्षय खान है। यदि हम युग-युगांतरतक इस खान से मणियां निकालते रहें तब भी भविष्य की संततियां इनमें से सदा नये-नये अमूल्य मणिमाणिक्य पा-पाकर प्रसन्न और विस्मित होती रहेंगी।

पुस्तक इतनी गंभीर और गुप्त ज्ञानपूर्ण है, फिर भी उसकी भाषा बहुत ही स्पष्ट, उसकी रचना सरल और बाहरी अर्थ आसानी से समझ में आनेवाला है। गीता-सागर की छोटी लहरियों के ऊपर-ही-ऊपर सैर करते रहने पर, डुबकी लगाये बिना भी शक्ति और आनंद में थोड़ी बहुत वृद्धि होती है। गीतारूपी खान की रत्नों से चमचमाती गहरी गुफा में प्रवेश किये बिना, बाहर-ही-बाहर घूमते रहने पर भी, घास-पात पर पड़ी हुई उज्ज्वल मणियां मिल जाती हैं और उनसे ही हम जीवन भर के लिये धनी बन जाते हैं।

गीता की हजारों टीकाएं हो चुकी हैं, फिर भी ऐसा समय कभी न आयेगा जब किसी नयी टीका की आवश्यकता न रहे। कोई जगत्श्रेष्ठ महापंडित या गभीर ज्ञानी गीता की ऐसी व्याख्या नहीं कर सकता जिसके हृदय में पैठ जाने पर हम अलमिति कह सकें और कह सकें कि इसके बाद गीता की कोई और व्याख्या करना बेकार है, इतने में ही सारा अर्थ समा गया। अपनी सारी बुद्धि लगाकर हम इस ज्ञान की शिक्षाओं की थोड़ी-सी मात्रा को ही समझ या समझा सकेंगे। बहुत दिनों तक योगमग्न या निष्काम कर्म के मार्ग पर ऊंचे-से-ऊंचे स्थान पर जाकर भी हम बस इतना ही कह सकेंगे कि हमने गीता के कुछ एक गभीर सत्यों को ही पाया है या गीता की दो-एक शिक्षाओं को ही जीवन में उतार पाये हैं। लेखक ने जितना प्राप्त किया है, कर्म-पथ पर जितने अंश का अभ्यास किया है उसके अनुसार चिंतन-मनन द्वारा जो अर्थ किया है उसीका औरों की सहायता के लिये विवरण देना इन लेखों का उद्देश्य है।

वक्ता

गीता के उद्देश्य और अर्थ को समझने के लिये पहले उसके वक्ता, पात्र और उस समय की अवस्था के बारे में विचार करना जरूरी है। वक्ता हैं भगवान् श्रीकृष्ण, पात्र हैं उनके सखा वीरश्रेष्ठ अर्जुन और अवस्था है कुरुक्षेत्र के भीषण हत्याकांड का आरंभ।

बहुत-से लोग कहते हैं कि महाभारत केवल एक रूपक है, श्रीकृष्ण भगवान् हैं, अर्जुन जीव, धृतराष्ट्र के बेटे सकल शत्रु और पांडव सेना मुक्ति की अनुकूल वृत्ति है। इससे जहां महाभारत को काव्य जगत् में हीन स्थान दिया जाता है वहीं, गीता की गभीरता, कर्म करनेवाले के जीवन में उसकी उपयोगिता और उच्च मानवजाति की उन्नति करनेवाली शिक्षा भी तुच्छ होकर नष्ट हो जाती है। कुरुक्षेत्र का रण गीता के चित्र का फ्रेम भर नहीं है। वह गीता की शिक्षा का मूल कारण और धर्म संपादित करने का श्रेष्ठ

क्षेत्र है। यदि यह मान लिया जाये कि कुरुक्षेत्र का महायुद्ध काल्पनिक था, गीता का धर्म वीरों का धर्म था तो वह संसार में आचरण करने लायक धर्म न रहकर, संसार के लिये अनुपयोगी, शांत, संन्यास धर्म बन जायेगा।

श्रीकृष्ण वक्ता हैं। शास्त्र कहते हैं, श्रीकृष्ण हैं भगवान् स्वयं। गीता में श्रीकृष्ण ने अपने भगवान् होने की घोषणा की है। चौथे अध्याय के अवतारवाद और दसवें अध्याय के विभूतिवाद में यह बतलाया गया है कि भगवान् सभी प्राणियों के शरीर में गुप्त रूप से उपस्थित हैं, वे कुछ विशेष भूतों में उनकी शक्ति के विकास के अनुसार कुछ परिमाण में व्यक्त हैं और श्रीकृष्ण के शरीर में पूर्ण रूप से अवतीर्ण हैं। बहुतों का कहना है कि श्रीकृष्ण, अर्जुन और कुरुक्षेत्र केवल रूपक हैं। इस रूपक को छोड़कर ही गीता की असली शिक्षा का उद्धार करना होगा। लेकिन उस शिक्षा के इस अंश को नहीं छोड़ा जा सकता। यदि हम अवतारवाद को मानते हैं तो श्रीकृष्ण को क्यों छोड़ दें? श्रीकृष्ण ही तो हैं इस ज्ञान और शिक्षा के प्रचारक।

श्रीकृष्ण अवतार हैं। वे मानव शरीर में मनुष्य के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक धर्म को ग्रहण करके उसके अनुसार लीला कर गये हैं। अगर हम उस लीला की प्रकट और गूढ़ शिक्षा को पा सकें तो इस सारे जगत् में फैली हुई लीला के अर्थ, उद्देश्य और प्रणाली को भी समझ पायेंगे। उस महान् लीला का मुख्य अंग है पूर्ण ज्ञान से प्रेरित कर्म, उस कर्म में तथा उस लीला के मूल में जो ज्ञान छिपा है वही गीता में प्रकट हुआ है।

महाभारत में श्रीकृष्ण कर्मवीर, महायोगी, महासंसारी, साम्राज्य की स्थापना करनेवाले, राजनीतिज्ञ और योद्धा, क्षत्रिय शरीर में ब्रह्मज्ञानी हैं। हम उनके जीवन में महाशक्ति का अतुलनीय विकास और उसकी रहस्यमयी क्रीड़ा देखते हैं। गीता उसी रहस्य की व्याख्या है।

श्रीकृष्ण सारे जगत् के प्रभु, सारे विश्व में व्यापक वासुदेव हैं फिर भी उन्होंने अपनी महिमा को छिपाकर मनुष्यों के साथ पिता, पुत्र, भ्राता, पति, सखा, मित्र, शत्रु आदि के नाते जोड़कर लीला की है। उनके जीवन में

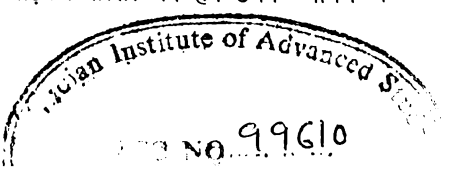

आर्यज्ञान का उत्तम रहस्य और भक्तिमार्ग की उत्तम शिक्षा छिपी है। गीता की शिक्षा में इन दोनों का तत्त्व भी मौजूद है।

श्रीकृष्ण का अवतार द्वापर और कलि के संधिकाल में हुआ था। हर कल्प में भगवान् उसी संधिकाल में पूर्णरूप से अवतीर्ण होते हैं। कलियुग चारों युगों में जितना निकृष्ट है उतना ही श्रेष्ठ भी है। यह युग मानवजाति की उन्नति के शत्रु पापप्रवर्तक कलि का राज्यकाल है। कलिकाल में मनुष्य अत्यन्त अवनति और अधोगति को प्राप्त होता है। बाधाओं के साथ युद्ध करते-करते शक्ति बढ़ती है, प्राचीन का नाश होने से नवीन की सृष्टि होती है। कलियुग में यही नियम दिखलायी देता है। जगत् के क्रमविकास के कारण अशुभ का जो अंश विनाश की ओर आगे बढ़ता है, कलियुग में वह अतिविकास के द्वारा नष्ट हो जाता है और दूसरी ओर नवसृष्टि का बीज बोया जाता है और उसमें अंकुर फूटते हैं, वही बीज सत्ययुग में वृक्ष का रूप ले लेता है। इसके सिवा, जैसे ज्योतिषविद्या में एक ग्रह की दशा में सभी ग्रहों को अन्तर्दशा का भोग होता है उसी तरह कलि की दशा में सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि भी अपनी-अपनी अन्तर्दशा का बार-बार भोग करते रहते हैं। इस तरह की कालचक्र की गति के कारण कलियुग में घोर अवनति, फिर उन्नति, फिर घोरतर अवनति, फिर उन्नति होती है, और इस तरह भगवान् का उद्देश्य पूरा होता है। द्वापर और कलियुग के संधिकाल में भगवान् अवतार लेकर अशुभ के अतिविकास, अशुभ के नाश, शुभ के बीज रोपने और उनमें अंकुर आने के लिये अनुकूल अवस्था उत्पन्न कर जाते हैं। उसके बाद होता है कलियुग का आरंभ। श्रीकृष्ण इस गीता में सत्ययुग के आने योग्य गुह्य ज्ञान और कर्मप्रणाली छोड़ गये हैं। कलि की वास्तविक अन्तर्दशा शुरू होने के समय सारी दुनिया में गीता का प्रचार होना जरूरी है। अब वह समय आ गया है और इसलिये गीता का प्रचार कुछ ज्ञानी और पंडित लोगोंतक सीमित न रहकर सर्वसाधारण लोगों में और म्लेच्छ देशोंतक में हो रहा है।

अतः वक्ता श्रीकृष्ण से उनकी वाणी—गीता—को अलग नहीं किया जा सकता। श्रीकृष्ण गीता में गुप्तरूप से उपस्थित रहते हैं। गीता श्रीकृष्ण की वाङ्मयी, वाणी से बनी मूर्ति है।

पात्र

गीता के ज्ञान के पात्र हैं पांडव-श्रेष्ठ महावीर इंद्रतनय अर्जुन। जैसे वक्ता को छोड़ दिया जाये तो गीता का उद्देश्य और गूढ़ अर्थ समझना कठिन है उसी तरह पात्र को छोड़ देने से भी उस अर्थ की हानि होती है।

अर्जुन श्रीकृष्ण के सखा थे। श्रीकृष्ण के समकालीन लोग, जो एक ही क्षेत्र में काम करने के लिये यहां उतरे थे, उन्होंने मानव देहधारी पुरुषोत्तम के साथ अपने-अपने अधिकार और पूर्वजन्म के विविध कर्मों के अनुसार नाना प्रकार के सम्बन्ध स्थापित किये थे। उद्धव श्रीकृष्ण के भक्त, सात्यकि उनके अनुयायी, सहचर और सेवक, राजा युधिष्ठिर उनकी सलाह के अनुसार चलनेवाले आत्मीय और बंधु थे, पर अर्जुन की तरह कोई और उनके साथ इतनी घनिष्ठता न साध सका। एक ही उम्र के पुरुषों में आपस में जितने मधुर और घनिष्ठ सम्बन्ध हो सकते हैं, श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच वे सभी सम्बन्ध थे। अर्जुन श्रीकृष्ण के भाई, उनके प्रियतम सखा, उनकी प्राणप्यारी बहन सुभद्रा के पति थे। चौथे अध्याय में भगवान् ने कहा है कि उन्होंने इस घनिष्ठता के कारण ही अर्जुन को गीता का परम रहस्य सुनने के लिये पात्र रूप में चुना है।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

"इस पुरातन लुप्त योग को मैं तेरे सामने तुझे अपना भक्त और सखा मानकर प्रकट कर रहा हूं, क्योंकि यह योग जगत् का श्रेष्ठ और परम रहस्य है।" अठारहवें अध्याय में भी गीता के केंद्रस्वरूप कर्मयोग का मूल मंत्र बतलाते हुए इसी बात को दोहराया गया है।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

"अब मेरी परम और गुह्यतम बात को सुन। तू मुझे अत्यन्त प्रिय है इसीलिये मैं तेरे आगे इस श्रेष्ठ मार्ग की बात करूंगा।" इन दोनों श्लोकों की बात श्रुति अनुकूल है। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

"यह परमात्मा न तो दार्शनिकों के प्रवचनों से प्राप्त होता है न मेधा की शक्ति से और न ही विस्तृत शास्त्र-ज्ञान द्वारा प्राप्त हो सकता है। परमात्मा उन्हींको प्राप्त हैं जिन्हें भगवान् ने चुन लिया है और उन्हींके सामने यह अपने शरीर को प्रकट करता है।" अतः जो भगवान् के साथ सखा इत्यादि के मधुर सम्बन्ध जोड़ने में समर्थ हैं वही गीता के ज्ञान के पात्र हैं।

इसीमें एक और बड़ी आवश्यक बात छिपी है। भगवान् ने अर्जुन को एक ही शरीर में भक्त और सखा के रूप में चुना। भक्त नाना प्रकार के होते हैं, साधारणतः जब किसीको भक्त कहा जाता है तो हमें गुरु-शिष्य-सम्बन्ध का ख्याल आता है। उस भक्ति के मूल में भी प्रेम तो है ही पर साधारणतः उसका मुख्य लक्षण होता है बाध्यता, सम्मान और अंधभक्ति। लेकिन सखा सखा का सम्मान नहीं करता, उसके साथ खेल-कूद, आमोद और प्रेम-भरी बातें करता है। खेल-कूद में उसका मजाक भी करता है और तिरस्कार भी, उसे गाली भी देता है और शरारत भी करता है। वह उसकी आज्ञा से बंधा नहीं रहता, वह उसकी ज्ञान, गरिमा और निष्कपट हितकामना से मुग्ध होकर उसके उपदेश के अनुसार चलता है लेकिन अंधा होकर नहीं, वह उसके साथ तर्क करता है, अपने सारे संदेह उसके आगे रखता है, बीच-बीच में उसके मत का खंडन भी करता है। मैत्री के सम्बन्ध की पहली शिक्षा है अभय भाव, दूसरी शिक्षा है सम्मान के बाहरी आडंबर का त्याग। प्रेम ही उसकी पहली और अंतिम बात है। जो इस जगत् को, संसार को मधुरतापूर्ण, रहस्यमयी, प्रेममयी, आनंदमयी लीला मानकर भगवान् को अपने खेल के साथी के रूप में चुनते हैं, उन्हें सखा के सम्बन्ध में बांध

सकते हैं, वे ही गीता में कहे गये ज्ञान के पात्र हैं। जो भगवान् की महिमा, प्रभुता, ज्ञान, गरिमा और भीषणता को भी अपनाकर उससे अभिभूत नहीं होते और उनके साथ निर्भय होकर हंसी-खुशी खेलते रहते हैं वे ही गीता में कहे गये ज्ञान के पात्र हैं।

सखा-भाव में क्रीड़ा के बहाने सभी सम्बन्ध आ जाते हैं। गुरु-शिष्य-संबंध सखा-भाव में प्रतिष्ठित होकर बहुत ही मधुर हो उठता है। गीता के शुरू में ही अर्जुन ने श्रीकृष्ण के साथ ऐसा ही नाता जोड़ा था। "तुम मेरे परम हितैषी बंधु हो, तुम्हें छोड़ किसकी शरण में जाऊं ? मैं हतबुद्धि हो रहा हूं, कर्तव्य के भार से दबा जा रहा हूं, कर्तव्य के बारे में मेरे अंदर संदेह उठ रहे हैं और मैं तीव्र शोक से आतुर हो उठा हूं। तुम मेरी रक्षा करो, मुझे उपदेश दो, मैं अपने इहलोक और परलोक दोनों के हित का पूरा भार तुम्हें सौंपता हूं।" इस भाव के साथ अर्जुन मानवजाति के सखा-सहायक के पास ज्ञान पाने के लिये आया था। इसके अतिरिक्त मातृसंबंध और वात्सल्य-भाव भी सखा-भाव में छिपा है। बड़ी उम्रवाले और ज्ञानश्रेष्ठ अपनेसे छोटे और कम जाननेवाले सखा के साथ मां की तरह स्नेह करते, उसकी रक्षा करते, देखभाल करते और उसे अपनी गोद में रखकर अशुभ से बचाये रखते हैं। जो श्रीकृष्ण के साथ सखा-भाव स्थापित करते हैं उनके सम्मुख श्रीकृष्ण अपना मातृरूप भी प्रकट करते हैं। सखा-भाव में जैसे मां के प्यार की गभीरता आ सकती है उसी तरह दंपति के प्रेम की तीव्रता और उसका उत्कट आनंद भी आ सकता है। सखा हमेशा सखा के साथ रहने के लिये प्रार्थना करता है, उसके विरह में कातर हो उठता है, उसके शरीर को छूने से पुलकित होता है और उसके लिये प्राणत्याग तक करने में आनंद का अनुभव करता है। दास्य-संबंध में भी सख्य की क्रीड़ा का समावेश होने पर वह अत्यंत मधुर हो जाता है। हम कह आये हैं कि पुरुषोत्तम के साथ जो जितना अधिक मधुर संबंध स्थापित कर पाये उसका सखा-भाव उतना ही अधिक खिल उठता है और वह गीता में कहे गये ज्ञान की उतनी ही अधिक पात्रता पाता है।

कृष्ण-सखा अर्जुन महाभारत के मुख्य कार्यकर्ता हैं और गीता की

कर्मयोग शिक्षा ही उसकी मुख्य शिक्षा है। ज्ञान, भक्ति और कर्म, ये तीन मार्ग आपस में एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। गीता की शिक्षा है कर्म मार्ग में, ज्ञानप्रेरित कर्म में भक्ति से प्राप्त शक्ति का प्रयोग करके भागवत उद्देश्य में उनके साथ एक होकर उन्हींके आदेशानुसार कर्म करना। जो संसार के दुःख से डरते हैं, वैराग्य से पीड़ित हैं, जो भगवान् की लीला को छोड़कर अनंत की गोद में छिप जाना चाहते हैं, उनका रास्ता इससे भिन्न है। वीरश्रेष्ठ महाधनुर्धर अर्जुन का ऐसा कोई विचार या भाव नहीं है। श्रीकृष्ण ने इस उत्तम रहस्य को किसी शांत संन्यासी या दार्शनिक, ज्ञानी के आगे प्रकट नहीं किया है। किसी अहिंसा-परायण ब्राह्मण को इस शिक्षा के पात्र के रूप में नहीं चुना, बल्कि एक महापराक्रमी, तेजस्वी, क्षत्रिय योद्धा को इस अतुलनीय ज्ञान के लिये उपयोगी आधार माना। जो संसार समर में जय या पराजय से विचलित नहीं होते वे ही इस शिक्षा के गूढ़तम रहस्य में प्रवेश करने में समर्थ होते हैं। *नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः*। यह आत्मा बलहीनों को प्राप्त नहीं होती। जो मोक्ष पाने की अपेक्षा भगवान् को पाने की इच्छा रखते हैं, वे ही भगवान् की निकटता पाकर अपने-आपको नित्यमुक्त जानते और मोक्ष की इच्छा को अज्ञान का अंतिम सहारा मानकर उसे त्यागने में समर्थ होते हैं। जो तामसिक और राजसिक अहंकार को छोड़कर सात्विक अहंकार में बंधे नहीं रहना चाहते वे ही गुणातीत होने में सक्षम हैं। अर्जुन ने क्षत्रिय धर्म का पालन करके राजसिक वृत्ति को चरितार्थ किया था, फिर सात्विक आदर्श ग्रहण करके रजःशक्ति को सत्वमुखी बनाया था। ऐसा पात्र ही गीता में कही गयी शिक्षा का उत्तम आधार है।

अर्जुन अपने समय के महापुरुषों में सबसे अच्छे न थे। आध्यात्मिक ज्ञान में सर्वश्रेष्ठ थे व्यास देव, उस समय के सब भांति के सांसारिक ज्ञान में सबसे बढ़-चढ़कर थे भीष्म पितामह, ज्ञानतृष्णा में धर्मपुत्र युधिष्ठिर, भक्ति में उद्धव और अक्रूर, स्वाभाविक शौर्य और पराक्रम में बड़े भाई महारथी कर्ण। फिर भी जगत्-प्रभु ने अर्जुन को ही चुना। उन्हींके हाथों में अचला जयश्री और गांडीव आदि अस्त्रों को देकर, उनके द्वारा भारत के हजारों जगद्विख्यात योद्धाओं का संहार कर अर्जुन के पराक्रम से प्राप्त दान के

रूप में युधिष्ठिर का शत्रुहीन साम्राज्य स्थापित किया। इसके अतिरिक्त अर्जुन को ही गीता के परम ज्ञान का एकमात्र उपयुक्त पात्र निर्धारित किया। अर्जुन ही थे महाभारत के मुख्य नायक और प्रधान कार्य-कर्ता। इस वाक्य की एक-एक पंक्ति उन्हींकी यशकीर्ति की घोषणा कर रही है। यह पुरुषोत्तम या महाभारतकार व्यासदेव का अन्याय या पक्षपात नहीं है। यह उत्कर्ष पूर्ण श्रद्धा और आत्मसमर्पण का फल है। जो पुरुषोत्तम पर पूर्ण श्रद्धा रखते हुए, उन्हींपर निर्भर रहते हुए, कोई मांग नहीं करते, अपने शुभ और अशुभ, मंगल और अमंगल, पाप और पुण्य का सारा-का-सारा भार उन्हें अर्पण करते हैं, जो अपने प्रिय कर्म में आसक्त न होकर उन्हींके आदेशानुसार कर्म करने की इच्छा रखते हैं, अपनी प्रिय वृत्ति को चरितार्थ न करके प्रिय द्वारा प्रेरित वृत्ति को ही अपनाते हैं, जो अपने प्रशंसित गुण से ही आग्रहपूर्वक नहीं लिपटे रहते बल्कि उनके दिये हुए गुण को, उन्हींके दिये हुए गुण और प्रेरणा को, उन्हींके काम में लगाते हैं वे श्रद्धावान्, अहंकाररहित कर्मयोगी ही पुरुषोत्तम के प्रियतम सखा और शक्ति के उत्तम आधार होते हैं। जगत् के विराट् कार्य उन्हींके द्वारा निर्दोष रूप से संपन्न होते हैं। इस्लाम धर्म के प्रणेता हजरत मुहम्मद इसी प्रकार के श्रेष्ठ योगी थे। उसी तरह अर्जुन हमेशा आत्मसमर्पण करने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। वही प्रयत्न श्रीकृष्ण की प्रसन्नता और उनके प्रेम का कारण था। जो संपूर्ण आत्मसमर्पण के लिये लगकर प्रयत्न करते हैं वही गीता में दी गयी शिक्षा के उत्तम अधिकारी होते हैं। श्रीकृष्ण उनके गुरु और सखा होकर उनके इहलोक और परलोक का पूरा भार अपने ऊपर ले लेते हैं।

अवस्था

मनुष्य के हर काम और उसकी हर बात का उद्देश्य और कारण पूरी तरह जानने के लिये यह जानना जरूरी है कि वह कार्य किस अवस्था में किया गया था या वह बात किस अवस्था में कही गयी थी। भगवान् ने गीता—

प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते—कुरुक्षेत्र के महायुद्ध के मैदान में शस्त्रों का प्रयोग आरंभ होते समय कही थी, यह सुनकर बहुत-से लोग आश्चर्य या क्रोध करते हैं और कहते हैं कि निश्चय ही यह कवि की असावधानी या उसका बुद्धिदोष है। लेकिन वास्तव में उसी समय, उसी स्थान पर, उसी प्रकार के भाववाले पात्र को, देश, काल और पात्र को समझकर श्रीकृष्ण ने गीता का ज्ञान प्रकट किया था।

समय था युद्ध का प्रारंभ काल। जिन लोगों ने प्रबल कर्म-स्रोत में अपनी वीरता और शक्ति का विकास नहीं किया, उनकी परख नहीं की, वे कभी गीता के ज्ञान के अधिकारी नहीं हो सकते, लेकिन जो कठिन महाव्रत आरंभ करते हैं, ऐसा महाव्रत जिसमें नाना प्रकार की विघ्न-बाधाएं आती हैं, शत्रु बहुत बढ़ जाते हैं, स्वभावतः, बहुत बार पराजय की शंका होती है, उस महाव्रत का पालन करने से जब दिव्य शक्ति उत्पन्न होती है, तब उस व्रत के अंतिम उद्यापन के लिये, भगवान् के काम को सिद्ध करने के लिये यह ज्ञान प्रकाशित होता है। गीता कहती है कि कर्मयोग द्वारा भगवान् की प्राप्ति होती है, श्रद्धा और भक्तिपूर्ण कर्म से ज्ञान पैदा होता है, अतः, गीता के मार्ग का यात्री अपना रास्ता छोड़कर किसी सुदूर शांतिमय आश्रम में, पर्वत या निर्जन स्थान में भगवान् का साक्षात्कार नहीं पाता बल्कि बीच रास्ते में ही, कर्म के कोलाहल में हठात् वह स्वर्गिक दीप्ति उसके सामने जगत् को आलोकित कर देती है। वह मधुर तेजभरी वाणी उसके कर्ण-कुहर में प्रवेश करती है।

स्थान है युद्धक्षेत्र, जहां दो सेनाओं के बीच शस्त्र चल रहे हैं। जो इस राह पर चलते हैं, ऐसे कामों में आगे होते हैं, वे प्रायः किसी बड़े परिणाम के समय, उस समय जब कर्मी के कर्मों के अनुसार भाग्य की गति इस ओर या उस ओर मोड़ लेनेवाली होती है, अचानक योग-सिद्धि या परम ज्ञान पा लेते हैं। उनका ज्ञान कर्म को रोकता नहीं, उसके साथ घुलमिल जाता है। यह भी सच है कि ध्यान से निर्जन स्थान में स्वस्थ आत्मा के अंदर ज्ञान का उदय होता है और इसी कारण मनीषी निर्जन स्थान में रहना पसंद करते हैं। लेकिन गीता में बतलाये गये मार्ग के यात्री मन, प्राण और

देहरूपी आधार को इस तरह बांट सकते हैं कि वे जनता के अंदर रहते हुए निर्जनता, कोलाहल के बीच शांति, घोर कर्म-प्रवृत्ति में परम निवृत्ति का अनुभव कर सकते हैं। वे अंतर का नियंत्रण बाह्य के द्वारा नहीं करते बल्कि अंतरद्वारा बाह्य का नियंत्रण करते हैं। साधारण योगी संसार से डरते हैं और संसार से भाग कर योगाश्रम की शरण लेते और वहां योग-साधना करते हैं। परंतु कर्मयोगी का योगाश्रम संसार है। साधारण योगी बाहरी शांति और नीरवता की इच्छा रखते हैं। शांति भंग होने से उनका तपोभंग होता है। कर्मयोगी अंतर की विशाल शांति और नीरवता में लीन रहते हैं। बाहरी कोलाहल में उनकी यह अवस्था और भी गहरी हो जाती है। बाहरी तपोभंग होने से उनका यह स्थिर आंतरिक लय भग्न नहीं होता, अविचल रहता है। लोग कहते हैं युद्ध के लिये तैयार दो सेनाओं के बीच भला श्रीकृष्ण और अर्जुन का यह संवाद कैसे संभव हो सकता है ? उत्तर है योग-प्रभाव से संभव होता है। उस योगबल द्वारा युद्ध के कोलाहल में एक जगह श्रीकृष्ण और अर्जुन के अंदर और बाहर शान्ति विराजमान थी। युद्ध का कोलाहल उन दोनों को छू तक नहीं गया था। इस बात में कर्म के लिये उपयोगी एक और आध्यात्मिक शिक्षा छिपी है। जो गीता में कहे गये योग का अध्ययन करते हैं वे श्रेष्ठ कर्मी कर्म से अनासक्त हैं। वे कर्म के अंदर ही आत्मा के आंतरिक आवाहन को सुनकर कर्म से विरक्त होकर योगमग्न और तपस्या में रत हो सकते हैं। वे जानते हैं कि कर्म भगवान् का है, फल भगवान् का है, हम केवल यंत्र हैं इसलिये वे कर्मफल के लिये आतुर नहीं होते। वे यह भी जानते हैं कि यह आवाहन कर्मयोग की सुविधा के लिये, कर्म की उन्नति के लिये, ज्ञान और शक्ति बढ़ाने के लिये होता है। इसलिये उन्हें कर्म से विरक्त होने का डर नहीं लगता। वे जानते हैं कि जो समय तपस्या में लगता है वह कभी व्यर्थ नहीं जा सकता।

पात्र का भाव कर्मयोगी के अंतिम संदेह का आरंभ है। विश्व की समस्या, सुख-दुःख की समस्या, पाप-पुण्य की समस्या से घबराकर बहुत-से लोग पलायन को ही अधिक अच्छा मानकर निवृत्ति, वैराग्य और कर्मत्याग की प्रशंसा का डंका बजाते हैं। बुद्धदेव ने जगत् को अनित्य और दुःखमय

बताकर निर्वाण का मार्ग दिखलाया था। ईसामसीह, टॉल्सटाय आदि मानवजाति के लिये संतान पैदा करनेवाली विवाहपद्धति और जगत् के पुरातन नियम-युद्ध के घोर विरोधी हैं। संन्यासी कहते हैं, कर्म अज्ञान से पैदा होता है। अज्ञान त्यागो, कर्म त्यागो, शांत और निष्क्रिय बन जाओ। अद्वैतवादी कहते हैं, जगत् मिथ्या है, जगत् मिथ्या है, ब्रह्म में विलीन होओ। तो फिर यह जगत् क्यों है ? यह संसार क्यों है ? यदि भगवान् हैं तो उन्होंने एक नादान बच्चे की तरह यह व्यर्थ पशु-श्रम, यह नीरस उपहास क्यों शुरू किया ? यदि केवल आत्मा ही सत्य है और जगत् मिथ्या है तो फिर, आत्मा ने इस अधम स्वप्न को अपने शुद्ध अस्तित्व पर क्यों थोपा ? नास्तिक कहते हैं, न भगवान् हैं न आत्मा है, है केवल एक अंधशक्ति की अंध क्रिया। यह भला कैसी बात है ? शक्ति किसकी ? कहां से पैदा हुई ? वह अंध और उन्मत्त क्यों हुई ? इन सब प्रश्नों की संतोषजनक मीमांसा कोई भी न कर सका, न ईसाई, न बौद्ध, न अद्वैतवादिन्, न नास्तिक, न वैज्ञानिक। सभी इस विषय में निरुत्तर हैं और समस्या की उपेक्षा करके उसे टालने में लगे हैं। केवल उपनिषद् और उसका अनुसरण करनेवाली गीता इस तरह टालमटोल नहीं करते, इसीलिये कुरुक्षेत्र के युद्ध में गीता गायी है। घोर सांसारिक कर्म, गुरुहत्या, भ्रातृहत्या, आत्मीय हत्या इस युद्ध का उद्देश्य है। अनगिनत लोगों की हत्या करनेवाले इस युद्ध के शुरू होने पर अर्जुन गाण्डीव धनुष हाथ से छोड़ देते हैं और कातर होकर कहते हैं—

तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥

"हे केशव ! मुझे इस घोर कर्म में क्यों लगा रहे हो ?" उत्तर में उस युद्ध के कोलाहल के बीच भगवान् के मुंह से वज्रसम गंभीर स्वर में यह महागीत निकला—

कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय॥

*

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

*

असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः।

*

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

*

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

*

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

*

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

*

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।

*

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

"इसलिये तुम कर्म करते चलो, पहले तुम्हारे पुरखे जो कर्म करते आये हैं; वही तुम्हें भी करना चाहिये।... योग में स्थित होकर, आसक्ति छोड़कर, कर्म करो। जिनकी बुद्धि योग में स्थित होती है वे इसी कर्मक्षेत्र में पाप-पुण्य को पार कर लेते हैं, अतः, योग-साधना करो, योग ही कर्म का श्रेष्ठ साधन है। आदमी अगर अनासक्त होकर कर्म करें तो निश्चय ही वे परम भगवान् को पा लेंगे।... ज्ञानपूर्ण हृदय से अपने सभी कर्म मुझे सौंप दो, कामना त्याग कर, अहंकार त्याग कर, दुःखरहित होकर युद्ध करो।... जो मुक्त हैं, आसक्तिरहित हैं, जिनका चित्त हमेशा ज्ञान में निवास करता है, जो यथार्थ कर्म करते हैं उनके कर्म बंधन का कारण न बनकर उसी क्षण पूरी तरह मेरे अंदर विलीन हो जाते हैं।... सभी प्राणियों के अंदर का ज्ञान अज्ञान से ढका हुआ है, इसीलिये वे सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि द्वंद्वों की सृष्टि करके मोह में जा गिरते हैं।... मुझे सर्वलोकमहेश्वर, यज्ञ, तपस्या आदि सब तरह के कर्मों का भोक्ता तथा प्राणिमात्र का सखा और बंधु मानने से परम शांति मिलती है।... मैं तुम्हारे शत्रुओं को मार चुका हूं, तुम बस यंत्र बनकर उनका संहार करो, दुखी मत होओ, युद्ध में लग जाओ, तुम विपक्षियों को रण में जीत लोगे... जिनका अंतःकरण अहंकार से शून्य है, जिनकी बुद्धि निर्लिप्त है, वे सारे जगत् का भी संहार कर दें तो भी हत्या नहीं करते, उन्हें किसी तरह का पाप नहीं बांधता।"

यहां प्रश्न टालने या प्रश्न से मुंह मोड़ने का कोई लक्षण नहीं है। प्रश्न को स्पष्ट रूप से सामने रखा गया है। जगत् क्या है, संसार क्या है, धर्म-पथ क्या है ? गीता में इन सभी प्रश्नों का उत्तर संक्षेप में दे दिया गया है, फिर भी, गीता का उद्देश्य संन्यास की नहीं, कर्म की शिक्षा है। इसीमें गीता की सबके लिये उपयोगिता है।

प्रथम अध्याय

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

धृतराष्ट्र ने कहा—

हे संजय, धर्म के क्षेत्र, कुरुक्षेत्र में युद्ध के लिये इकट्ठे होकर मेरे पक्ष और पांडव पक्ष ने क्या किया ?

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

संजय ने कहा—

उस समय राजा दुर्योधन व्यूह में बंधी पांडव सेना को देख आचार्य (द्रोणाचार्य) के समीप जाकर यह बोले :

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

देखिये आचार्य ! अपने मेधावी शिष्य द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूह में बंधी इस विराट् पांडवसेना को देखिये।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

इस विराट् सेना में भीम और अर्जुन के समान महाधनुर्धर वीर पुरुष हैं—युयुधान, विराट् और महारथी द्रुपद,

धृष्टकेतु, चेकितान और महाप्रतापी काशिराज, पुरुजित्, कुंतिभोज और नरपुंगव शैब्य,

विक्रमशाली युधामन्यु और प्रतापवान् उत्तमौजा, सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदी के पुत्रगण, सभी महायोद्धा हैं।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥७॥

हममें जो असाधारण शक्तिवाले हैं, जो मेरी सेना के नायक हैं, उनके नाम आपको याद दिलाये देता हूं, ध्यान दीजिये।

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः ॥८॥
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

आप, भीष्म, कर्ण और युद्ध में जीतनेवाले कृप, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्त के पुत्र भूरिश्रवा और जयद्रथ,

और भी कई वीर पुरुषों ने मेरे लिये प्राण की ममता छोड़ दी है। ये सभी युद्धविशारद और नाना तरह के अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

हमारा यह सैन्यबल एक तो अपरिमित है, और फिर भीष्म हैं हमारे रक्षक; उनके दल का सैन्यबल परिमित है, भीम ही उनकी रक्षा के आशास्थल हैं।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥११॥

इसलिये आप सभी युद्ध में प्रवेश करने के जितने स्थल हैं वहां-वहां अपनी निर्दिष्ट सेना की टुकड़ी में रहकर भीष्म की ही रक्षा कीजिये।

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान्॥१२॥

दुर्योधन के प्राणों में हर्ष की अधिकता बढ़ाकर कुरुवृद्ध महाप्रतापी पितामह भीष्म ने उच्च सिंहनाद से रणस्थल को गुंजरित कर, महाप्रतापी शंखनिनाद किया।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥१३॥

तब शंख, भेरी, पणव, आनक और गोमुख आदि युद्ध के बाजे अकस्मात् बजने लगे, तुमुल शब्द से रणक्षेत्र गूंज उठा।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः॥१४॥

उसके बाद श्वेत अश्वों से युक्त विशाल रथ में खड़े माधव और पांडुपुत्र अर्जुन ने अपना-अपना दिव्य शंख बजाया।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

हृषीकेश ने पांचजन्य, धनंजयने देवदत्त, भीमकर्मा वृकोदर ने पौंड्र नामक महाशंख बजाया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनंतविजय शंख तथा नकुल और सहदेव ने सुघोष और मणि पुष्पक शंख बजाये।

काश्यश्च परमेश्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

उसके बाद धनुर्धर काशीराज, महारथी शिखंडी, धृष्टद्युम्न, अपराजित योद्धा सात्यकि,

द्रुपद, द्रौपदी के पुत्रगण, महाबाहु सुभद्रा के पुत्र, सबने चारों ओर से अपना-अपना शंख बजाया।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

उस महाशब्द ने आकाश और पृथ्वी को तुमुल ध्वनि से प्रतिध्वनित कर धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय को बींध दिया।

अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

तब शस्त्रों के चलने के बाद पांडुपुत्र अर्जुन ने धनुष उठाकर हृषीकेश से यह कहा।

अर्जुन उवाच
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

अर्जुन ने कहा—

हे निष्पाप ! दोनों सेनाओं के बीच मेरा रथ खड़ा करो। तब तक मैं युद्ध की इच्छा रखनेवाले अपने विपक्षियों को देख लूं। मैं यह जानना चाहता हूं कि मुझे इस रणोत्सव में किनके साथ लड़ना होगा ?

देखूं, युद्ध की इच्छा रखनेवाले ये कौन हैं जो धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधन के प्रिय काम करने की इच्छा से युद्धभूमि में उतर आये हैं ?

सञ्जय उवाच
एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

संजय ने कहा—

गुडाकेश की यह बात सुनकर हृषीकेश ने दोनों सेनाओं के बीच उस उत्तम रथ को खड़ा करके,

भीष्म, द्रोण और सभी राजाओं के सामने उपस्थित होकर कहा, हे पार्थ! युद्ध में इकट्ठे हुए कौरवों को देखो।

तत्रापश्यत् स्थितान्पार्थ पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान् भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

उस युद्धभूमि में पार्थ ने देखा कि पिता, पितामह, आचार्य, मामा, भाई, पुत्र, पौत्र, सखा, श्वसुर, सुहृद् जितने भी आत्मीय और स्वजन हैं, वे सब दोनों परस्परविरोधी सेनाओं में खड़े हैं।

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

उन सब बंधु-बांधवों को इस प्रकार खड़ा देख कुन्ती के पुत्र गहरी करुणा से भरकर विषादभरे हृदय से यह बोले :

अर्जुन उवाच
दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्ण युयुत्सून् समवस्थितान् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक् चैव परिदह्यते।

अर्जुन ने कहा—

हे कृष्ण! इन सब अपने लोगों को युद्ध के लिये खड़ा देखकर मेरे शरीर के सभी अंग अवसाद में डूबे जा रहे हैं, मुंह सूखा जा रहा है,

सारे शरीर में कंपन और रोमांच हो रहा है, गांडीव अवश हाथ से गिरा जा रहा है, त्वचा मानों आग में जली जा रही है।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।

मेरे अंदर खड़े रहने की शक्ति भी नहीं है, मन मानों चक्कर खा रहा है; हे केशव ! मैं सभी अशुभ लक्षण देख रहा हूं।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।

युद्ध में अपने लोगों को मारने में कोई श्रेय नहीं देखता; हे कृष्ण ! मैं विजय नहीं चाहता, राज्य भी नहीं चाहता, सुख भी नहीं चाहता।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।

बोलो गोविन्द, राज्य से हमें क्या लाभ होगा ? भोग से क्या लाभ होगा ? जीवन का आखिर क्या प्रयोजन है ? जिनके लिये राज्य, भोग और जीवन की इच्छा रखता हूं,

वे ही जीवन और धन को त्यागकर इस युद्धभूमि में उतर आये हैं—आचार्य, पिता, पुत्र, पितामह,

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥
निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।

मामा, ससुर, पोते, साले तथा और भी संबंधी। हे मधुसूदन ! ये यदि मेरा वध भी करें, फिर भी, मैं इन्हें मारना नहीं चाहता;

त्रिलोक के राज्य के लोभ से भी नहीं, पृथ्वी का आधिपत्य तो दूर की बात है। हे जनार्दन, धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमारे मन को भला क्या सुख मिल सकता है ?

पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्त्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥३७॥

ये आततायी हैं, फिर भी इनका वध करने से हमारे मन में, पाप ही पनपेगा। धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे अपने लोग हैं, इसलिये हमें इनके मारने का अधिकार नहीं है। हे माधव ! अपने लोगों को मारने से हम कैसे सुखी होंगे ?

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

हो सकता है कि लोभ के कारण इनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी हो और ये अपने कुल के नाश के दोष को और अपने मित्र का अनिष्ट करने के महापाप को समझ नहीं पा रहे हों,

लेकिन, फिर भी हे जनार्दन ! हम कुल के नाश से उत्पन्न दोष को समझते हैं, हमें इसका ज्ञान क्यों न हो ? हम इस पाप से पीछे क्यों न हटें ?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुल का नाश होने से सारे सनातन कुल-धर्म का विनाश होता है, और धर्म के नाश से अधर्म सारे कुल पर छा जाता है।

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

हे कृष्ण! अधर्म छा जाने पर कुल की स्त्रियां दुश्चरित्र हो जाती हैं, कुल की स्त्रियों के दुश्चरित्र होने से वर्णसंकर होता है।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

वर्णसंकर कुल को और कुल का नाश करनेवाले लोगों को नरक में ले जाने का कारण बनता है, क्योंकि उनके पितर पिंड और जल न मिलने से पितृलोक से नीचे गिर जाते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

कुलनाशकों के वर्णसंकर से उत्पन्न दोषों के कारण सनातन जाति का धर्म और कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

मैं प्राचीन समय से यही सुनता आ रहा हूं कि जिनका कुलधर्म नष्ट हो गया है, ऐसे मनुष्यों का नरक में जाना निश्चित है।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

अहो ! हमने बहुत बड़े पाप का निश्चय किया था कि राज्य के सुख के लोभ से अपनों को मारने के लिये तैयार थे।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

अगर निशस्त्र और प्रतिकार न करनेवाले मुझको, धृतराष्ट्र के पुत्र युद्ध में मार डालें तो इसकी अपेक्षा मेरा अधिक कल्याण होगा।

सञ्जय उवाच
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

संजय ने कहा—

ऐसा कहकर शोक के आवेग से व्याकुल होकर अर्जुन युद्ध के समय चढ़े हुए धनुष-बाण को छोड़कर रथ में बैठ गये।

संजय को दिव्य चक्षु की प्राप्ति

गीता महाभारत के महायुद्ध के शुरू में कही गयी थी। अतः इसके पहले श्लोक में ही राजा धृतराष्ट्र दिव्य दृष्टि-प्राप्त संजय से युद्ध के समाचार पूछते हैं। युद्धक्षेत्र में दोनों सेनाएं उपस्थित हैं, वृद्ध राजा यह जानने के लिये उत्सुक हैं कि उन्होंने सबसे पहले क्या किया। आज अंग्रेजी पढ़े भारतवासियों की दृष्टि से संजय की दिव्य दृष्टि कवि की कल्पना के सिवा कुछ और नहीं है। अगर हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति ने दूरदृष्टि (क्लेअरवायांस) और दूरश्रवण (क्लेअरऑडियेंस) प्राप्त कर ली और उसकी सहायता से कहीं दूर होनेवाले युद्ध के रोंगटे खड़े करनेवाले दृश्य और

महारथियों के सिंहनाद वह सुन पाता था तो बात शायद इतनी अविश्वसनीय न भी होती। जब हम कहते हैं कि व्यासदेव ने यह शक्ति संजय को प्रदान की थी तो इसे कपोल कल्पना कहकर उड़ा देने की प्रवृत्ति होती है। अगर हम कहते कि किसी प्रसिद्ध यूरोपीय वैज्ञानिक ने अमुक व्यक्ति को सम्मोहित करके उसके मुंह से उस दूर की घटना के कई वर्णन सुने तो जिन लोगों ने पाश्चात्य सम्मोहन-विद्या का ध्यान से अध्ययन किया है वे लोग विश्वास कर भी लेते। लेकिन सम्मोहन (हिप्नॉटिज़्म) योगशक्ति का एक निकृष्ट और वर्जित अंग ही है। मनुष्य के अंदर ऐसी बहुत-सी शक्तियां छिपी हैं जिन्हें प्राचीन सभ्य जातियां जानती और विकसित करती थीं परंतु कलिकाल में पैदा हुए अज्ञान-स्रोत में वे सब विद्याएं बह गयीं। उनके कुछ अंश थोड़े-से लोगों में गुप्त और गोपनीय ज्ञान के रूप में बचे हुए हैं। स्थूल इंद्रियों के परे सूक्ष्म दृष्टि नामक एक सूक्ष्म इंद्रिय है जिसके द्वारा हम स्थूल इंद्रियों के परे की चीजों को और उनके ज्ञान को पा सकते हैं। सूक्ष्म वस्तु का दर्शन, सूक्ष्म शब्द का श्रवण, सूक्ष्म गंध का आघ्राण, सूक्ष्म पदार्थ का स्पर्श और सूक्ष्म आहार का आस्वादन भी कर सकते हैं। सूक्ष्म दृष्टि के चरम परिणाम को ही दिव्य चक्षु कहते हैं। उसके प्रभाव से दूर की, गुप्त या अन्य लोगों की सब बातें मालूम हो सकती हैं। परम योग-शक्ति के आधार महामुनि व्यास यह दिव्य चक्षु संजय को देने में समर्थ थे—इस बात पर अविश्वास करने का हमारे पास कोई कारण नहीं है। जब हमें पश्चिम के सम्मोहनकारी की अद्‌भुत शक्ति पर अविश्वास नहीं होता तो भला व्यासदेव की इस अनुपम शक्ति पर ही अविश्वास क्यों हो ? शक्तिमान् की शक्ति का संचार दूसरों के शरीर में भी हो सकता है, इतिहास के पन्ने-पन्ने पर, मनुष्य जीवन के प्रत्येक कर्म में इसके अनगिनत प्रमाण मिल सकते हैं। नेपोलियन, इतो आदि कर्मवीरों ने उपयुक्त शक्ति-संचार करके अपने कार्य के लिये सहकारी तैयार किये थे। अतिसामान्य योगी भी कोई सिद्धि प्राप्त करके, कुछ क्षण के लिये या किसी कार्य-विशेष के लिये अपनी सिद्धि औरों को दे सकते हैं, व्यासदेव तो जगत् के श्रेष्ठ मनीषी और असामान्य योगसिद्ध पुरुष थे। वास्तव में दिव्य चक्षु का अस्तित्व कोई कपोल-कल्पना

न होकर वैज्ञानिक सत्य है। हम जानते हैं—आंख नहीं देखती, कान नहीं सुनते, नाक नहीं सूंघती, त्वचा स्पर्श नहीं करती और जीभ स्वाद नहीं लेती। मन ही देखता है, मन ही सुनता है, मन ही सूंघता है, मन ही स्पर्श पाता है और मन ही स्वाद लेता है। दर्शन शास्त्र और मानस शास्त्र में यह सत्य चिरकाल से स्वीकृत है। सम्मोहन में वैज्ञानिक परीक्षण द्वारा यह प्रमाणित हो चुका है कि आंखें बंद रहते हुए देखने का काम जिस किसी नाड़ी द्वारा किया जा सकता है। इससे यही सिद्ध होता है कि आंखें आदि स्थूल इन्द्रियां ज्ञान-प्राप्ति के सुविधाजनक साधनमात्र हैं। स्थूल शरीर के परंपरागत अभ्यास के कारण हम उनके दास बन गये हैं। परंतु वास्तव में यह ज्ञान शरीर की किसी भी प्रणाली द्वारा मस्तकतक पहुंचाया जा सकता है—जैसे अंधा आदमी छूकर चीजों की आकृति और उनके स्वभाव की भूलरहित धारणा करता है। लेकिन अंधे और सोये हुए आदमी की दृष्टि में यह फर्क होता है कि सोया हुआ आदमी मन के अंदर पदार्थों की प्रतिमूर्ति देखता है। इसे कहते हैं—दर्शन। वास्तव में हम अपने सामने रखी पुस्तक नहीं देखते, हमारी आंखों में पुस्तक की जो प्रतिमूर्ति दिखायी देती है उसीको देखकर हमारा मन कहता है कि मैंने पुस्तक देखी है। लेकिन जब सोया हुआ आदमी दूर की किसी वस्तु या घटना को देखता या सुनता है तो इससे यह सिद्ध होता है कि किसी वस्तु के बारे में ज्ञान प्राप्त करने के लिये किसी शारीरिक प्रणाली की आवश्यकता नहीं है—सूक्ष्मदृष्टि के द्वारा भी देखा जा सकता है। लंदन के किसी कमरे में बैठकर उस समय एडिनबरा में जो घटना चल रही है, मन के अंदर उसे देख लिया—इस तरह के देखनेवालों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है। इसीको सूक्ष्मदृष्टि कहते हैं। सूक्ष्मदृष्टि और दिव्यदृष्टि में यही भेद है कि सूक्ष्मद्रष्टा मन के अंदर अदृष्ट वस्तु की प्रतिमूर्ति को देखता है, जब कि दिव्यचक्षु द्वारा हम उसी दृश्य को मन के अंदर न देखकर शारीरिक चक्षु के सामने देखते हैं, चिन्तन के मूल में वह शब्द न सुनकर शारीरिक कान से उसे सुनते हैं। इसका एक सामान्य दृष्टांत है स्फटिक (क्रिस्टल) या स्याही के अंदर समसामयिक घटना देखना। लेकिन दिव्य चक्षु प्राप्त योगी के लिये इस तरह के साधनों

की कोई आवश्यकता नहीं होती। वह इस शक्ति के विकास के लिये, बिना किसी साधन के, देशकाल के बंधन को खोलकर दूसरे देश या दूसरे काल की घटना को जान सकता है। देश के बंधन को तोड़ने के हमने बहुत से प्रमाण देखे हैं लेकिन काल के बंधन को भी तोड़ा जा सकता है, मनुष्य तीनों कालों को देख सकता है, इसके अधिक संख्या में और संतोषजनक प्रमाण अब तक जगत् के सामने नहीं आये हैं। लेकिन अगर देश के बंधनों को तोड़ना संभव है तो हम यह नहीं कह सकते कि काल के बंधन को तोड़ना असंभव बात है। जो हो, व्यासदेव द्वारा दिये गये दिव्य चक्षु से संजय ने हस्तिनापुर में बैठे-बैठे ही मानों कुरुक्षेत्र में खड़े होकर, धार्तराष्ट्र और पांडवसमूह को आंखों से देखा, दुर्योधन की उक्ति को, भीष्म पितामह के महान् सिंहनाद को, पांचजन्य के कुरुध्वंसघोषक महाशब्द और गीता के अर्थ के द्योतक श्रीकृष्ण और अर्जुन-संवाद को अपने कानों से सुना।

हमारे मत के अनुसार महाभारत भी रूपक नहीं है, कृष्ण और अर्जुन भी कवि की कल्पना नहीं हैं और न गीता ही आधुनिक तार्किक या दार्शनिक का सिद्धांत ही है। इसलिये गीता की कोई भी बात असंभव या युक्ति के विरुद्ध नहीं है—इसे सिद्ध करना होगा इसीलिये दिव्य चक्षु को पाने की बात की इतने विस्तार से व्याख्या की है।

दुर्योधन का वाक्चातुर्य

संजय युद्ध की पहली अवस्था का वर्णन शुरू कर रहे हैं। दुर्योधन पांडव सेना द्वारा बनाये व्यूह को देखकर द्रोणाचार्य के निकट आया। वह क्यों द्रोणाचार्य के निकट गया इसकी व्याख्या करना जरूरी है। भीष्म सेनापति थे, उनसे युद्ध की बात करना उचित था, लेकिन कूटबुद्धि दुर्योधन के मन में भीष्म पितामह पर विश्वास न था। भीष्म पांडवों से प्रेम करते थे। हस्तिनापुर के शांति दल के नेता थे, अगर पांडवों का धृतराष्ट्र के पुत्रों के

साथ युद्ध होता तो भीष्म कभी अस्त्र न उठाते। लेकिन कुरुवंश के पुराने और समान वीरतावाले शत्रु यानी पांचालजाति को, जिन्हें साम्राज्य का लोभ था, देखकर कुरुवंश के प्रधान पुरुष, योद्धा और राजनीतिक भीष्म ने सेनापति का पद लिया और अपने बाहुबल से अपनी जाति के चिररक्षित गौरव और प्रधानता की अंततक रक्षा करने का बीड़ा उठाया। दुर्योधन, अपने-आपमें असुर स्वभाव का था। ईर्ष्या-द्वेष ही उसके हर काम का हेतु और कारण था, इसलिये वह कर्तव्यपरायण महापुरुष के मन का विचार जानने में असमर्थ था, उसे इस बात पर कतई विश्वास न था कि कर्तव्य-बुद्धि द्वारा अपने प्राणों से भी प्रिय पांडवों को युद्धभूमि में मारने का संकल्प कठोर तपस्वी के अंदर है। परामर्श के समय अपने देश का हित करनेवाले अपना मत प्रकट करके अपनी जाति को अन्याय और अहित से दूर करने की जी-जान से कोशिश करते हैं और अगर उस अन्याय और अहित को एक बार लोगों ने स्वीकार कर लिया तो अपने मत की उपेक्षा करके, अधर्मयुद्ध में भी अपनी जाति की रक्षा और शत्रु का नाश करते हैं। भीष्म ने भी यही पक्ष अपनाया। यह बात भी दुर्योधन की समझ के परे थी। इसलिये वह भीष्म के पास न जाकर द्रोण के पास गया। द्रोण व्यक्तिगत रूप से पांचाल राजा के घोर शत्रु थे, पांचाल देश के राजकुमार धृष्टद्युम्न ने गुरु द्रोण का वध करने का निश्चय किया था इसलिये दुर्योधन ने सोचा कि इस व्यक्तिगत वैर की याद दिलाकर द्रोणाचार्य शांति के पक्षपात का एकदम से त्याग कर पूरे उत्साह के साथ युद्ध करेंगे। दुर्योधन ने स्पष्ट रूप से यह बात नहीं कही। केवल धृष्टद्युम्न के नाम का उल्लेख भर किया, उसके बाद भीष्म को भी संतुष्ट करने के लिये उन्हें कुरु राज्य का रक्षक और विजय की आशा का स्वरूप कहा। पहले उसने विपक्ष के मुख्य योद्धाओं के नाम का उल्लेख किया, फिर अपनी सेना के कुछ नेताओं के नाम गिनाये, सबके नहीं, द्रोण और भीष्म का नाम लेना ही उसकी उद्देश्य की सिद्धि के लिये काफी था, लेकिन उसी उद्देश्य को छिपाने के लिये उसने और चार-पांच नाम गिना दिये। उसके बाद कहा, "हमारी सेना बहुत बड़ी है, भीष्म हैं हमारे सेनापति। पांडवों की सेना हमारी सेना की अपेक्षा कम

है। उनकी आशा है भीम का बाहुबल, इसलिये हमारी विजय भला क्यों न होगी ? जब भीष्म हमारे मुख्य भरोसा हैं तो सबको उनकी शत्रु के आक्रमण से रक्षा करनी होगी, उनके रहते हमारी विजय निश्चित है।'' कई लोग 'अपर्याप्त' शब्द का उल्टा अर्थ करते हैं, यह तर्कसंगत नहीं है, दुर्योधन की सेना पांडवों की अपेक्षा बड़ी थी, लेकिन उस सेना के नेता भी वीरता में किसीसे कम न थे। तब अपनी प्रशंसा करनेवाले दुर्योधन, अपने बल की निन्दा कर भला निराशा क्यों पैदा करेंगे ? भीष्म दुर्योधन के मन का विचार और उसकी बात के पीछे छिपे अर्थ को समझ गये, इसीलिये उसकी शंका को मिटाने के लिये उन्होंने सिंहनाद और शंखनाद किया। इससे दुर्योधन के हृदय में हर्ष की लहर दौड़ गयी। उसने सोचा, चलो, मेरा उद्देश्य सफल हुआ, अब द्रोण और भीष्म दुविधा दूर करके युद्ध करेंगे।

पूर्व सूचना

जैसे ही भीष्म के गगनभेदी शंखनाद ने युद्धभूमि को हिला दिया उसी समय उस विशाल कौरव सेना में चारों तरफ से युद्ध के बाजे बजने लगे और युद्ध के उल्लास से रथ के लोग झूमने लगे। दूसरी तरफ पांडवों के श्रेष्ठ वीर, और उनके सारथी श्रीकृष्ण ने युद्ध की घोषणा के उत्तर में शंखनाद किया और युधिष्ठिर से लेकर पांडवों के सभी वीरों ने अपने-अपने शंख बजाकर सेना के हृदय में रणचण्डी को जगाया। उस महान् शब्द ने पृथ्वी और आकाश को गुंजाकर मानों धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय को बेध दिया। इसका यह मतलब नहीं कि भीष्म इत्यादि इस शब्द से डर गये, वे वीरपुरुष, रणचण्डी के आह्वान से भला डरने क्यों लगे ? इस कथन से कवि ने पहले, शब्द के अतिभीषण शारीरिक वेगवान् संचार का वर्णन किया, जिस तरह कई बार वज्रनाद के सुननेवालों को ऐसा लगता है मानों उनके सिर के दो टुकड़े हो गये, उसी तरह सारी युद्धभूमि में फैलनेवाले महाशब्द का संचार हुआ। और यह शब्द मानों धृतराष्ट्र के पुत्रों आदि के निधन की भावी

घोषणा थी, जिन हृदयों को पांडव अपने शस्त्रों से बेध देंगे, पहले से ही उनके शंखनाद ने उनको बेध दिया। युद्ध शुरू हुआ। दोनों तरफ से शस्त्र चलने लगे, ऐसे समय अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा, "आप मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कीजिये, मेरे अंदर यह देखने की इच्छा जाग रही है कि कौन-कौन हमारे विपक्ष में हैं, कौन-कौन दुर्बुद्धि दुर्योधन के प्रिय कार्य करने के लिये इकट्ठे हुए हैं, मुझे किसके साथ युद्ध करना होगा ?" अर्जुन के मन में यह विचार था कि मैं ही पांडवों का आशास्थल हूं, मेरे द्वारा ही विपक्ष के मुख्य-मुख्य योद्धा मारे जायेंगे, इसलिये देखूं वे कौन हैं। यहांतक अर्जुन के अंदर पूरा-पूरा क्षत्रिय भाव था, उसके अंदर करुणा या दुर्बलता का कोई चिह्न तक नहीं था। भारत के कई श्रेष्ठ वीर विरोधी सेना में मौजूद थे, सभी को मारकर अर्जुन अपने बड़े भाई युधिष्ठिर को एकछत्र राज्य देना चाहते थे। लेकिन श्रीकृष्ण जानते थे कि अर्जुन के मन में दुर्बलता है, अगर अभी उसके चित्त को शुद्ध नहीं किया, तो किसी भी समय वह अचानक चित्त से निकलकर बुद्धि पर अधिकार जमा सकती है और तब पांडवों का विशेष अनिष्ट हो सकता है। शायद सर्वनाश ही हो जाये। इसी कारण श्रीकृष्ण ने ऐसी जगह लाकर रथ को खड़ा किया जहां से अर्जुन अपने प्रियजन भीष्म, द्रोण इत्यादि और सभी कौरव राजाओं को देख पाये, फिर वे उससे बोले, "देखो, इकट्ठी कौरवजाति को देखो।" यह याद रखना चाहिये कि अर्जुन स्वयं कुरुजाति के थे, कुरुवंश के गौरव थे वे, उनके सभी आत्मीय, प्रिय, बचपन के सभी सहचर उसी कुरुजाति के थे—इससे श्रीकृष्ण द्वारा कहे तीन सामान्य शब्दों के अर्थ और भाव को हृदयंगम किया जा सकता है। तब अर्जुन ने देखा कि जिनको मारकर युधिष्ठिर का एकछत्र राज्य स्थापित होगा वह और कोई नहीं अपने ही प्रिय आत्मीय गुरु, बंधु, भक्ति और प्रेम के पात्र हैं। और उन्होंने देखा, सारे भारत का क्षत्रिय वंश आपस में प्रिय संबंध से बंधा हुआ है, फिर भी एक दूसरे को मारने के लिये इस भीषण युद्धक्षेत्र में उतर आया है।

विषाद का मूल कारण

अर्जुन के खेद का मूल कारण क्या था ? कई लोग उसके इस विषाद की प्रशंसा करते हैं और श्रीकृष्ण को कुमार्ग का प्रदर्शक और अधर्म को माननेवाला कहकर उनकी निन्दा करते हैं। ऐसे लोगों की धारणा होती है कि ईसाई धर्म का शांतिभाव, बौद्ध धर्म का अहिंसाभाव और वैष्णवधर्म का प्रेमभाव ऊंचा और श्रेष्ठ धर्म है, युद्ध और मनुष्यों की हत्या पाप है, भाई और गुरु की हत्या करना महापाप है—इसी धारणा के कारण वे ऐसी असंगत बातें करते हैं। लेकिन यह सारी आधुनिक धारणा द्वापर युग के महावीर पांडव के मन में नहीं उठी, अहिंसा-भाव श्रेष्ठ है या युद्ध, नरहत्या, भ्रातृहत्या या गुरुहत्या महापाप है इसलिये युद्ध से पीछे हटना चाहिये, इन सब बातों का कोई चिह्न भी अर्जुन की बात में नहीं दिखायी देता। हां, उन्होंने इतना जरूर कहा कि गुरुजन की हत्या करने की अपेक्षा भिक्षावृत्ति को अपनाना ज्यादा श्रेयस्कर है, यह भी कहा कि बंधु-बांधवों की हत्या का पाप हमें लगेगा, लेकिन यह बात उन्होंने कर्म का स्वभाव देखकर नहीं कही, कर्म-फल देखकर कही; इसीलिये श्रीकृष्ण ने उसके दुःख को दूर करने के लिये यह शिक्षा दी कि कर्म का फल नहीं देखना चाहिये, कर्म के स्वभाव को देखकर यह निश्चय करना चाहिये कि यह कर्म उचित है या अनुचित। अर्जुन के मन का सबसे पहला भाव यह था कि ये हमारे आत्मीय, गुरुजन, बंधु, बचपन के सखा हैं, सभी स्नेह, भक्ति और प्रेम के पात्र हैं। इनकी हत्या कर एकछत्र राज्य पा लेने पर वह राज्यभोग कभी सुखद न होगा बल्कि जीवन भर दुःख और पश्चात्ताप की अग्नि में जलना पड़ेगा। बंधु-बांधवरहित पृथ्वी पर राज्य करना किसीके लिये वांछनीय नहीं है। अर्जुन के मन में दूसरा भाव यह था कि प्रियजन की हत्या करना धर्म के विरुद्ध है, जिनसे द्वेष होता है उनकी युद्ध में हत्या करना क्षत्रिय का धर्म है। तीसरा भाव यह था कि स्वार्थ के लिये, इस तरह कार्य करना धर्म के विरुद्ध और क्षत्रिय के लिये अनुचित है। चौथा भाव था कि भाई के विरोध, भाई की हत्या से कुलनाश और जातिनाश होगा। इस तरह का बुरा

परिणाम लाना कुल और जाति के रक्षक, वीर क्षत्रिय के लिये महापाप है। अर्जुन के विषाद के मूल में इन चार भावों से भिन्न और कोई भाव न था। इसको न समझकर श्रीकृष्ण का उद्देश्य और उनकी शिक्षा के अर्थ को नहीं समझा जा सकता। ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म और वैष्णव धर्म के साथ गीता के धर्म के विरोध या सामंजस्य की बात बाद में करेंगे। पहले अर्जुन के कथन के भाव का सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण कर, उसके मन के भाव को दिखायें।

वैष्णवी माया का आक्रमण

अर्जुन ने पहले अपने विषाद का वर्णन किया। स्नेह और करुणा के अचानक विद्रोह से महावीर अर्जुन अभिभूत और परास्त हो गये, उनके शरीर का सारा बल क्षण भर में सूख गया, सारे अंग शिथिल पड़ गये, खड़े रहने की भी शक्ति न रही, बलवान् हाथ गांडीव पकड़ने में भी असमर्थ हो गये, शोक के प्रबल वेग से ज्वर के लक्षण दीखने लगे, शरीर में दुर्बलता आ गयी, त्वचा मानों आग में जलने लगी, मुंह सूखने लगा, सारा शरीर जोरों से कांपने लगा, मन मानों इस आक्रमण से चक्कर खाने लगा। इस तरह का वर्णन पढ़कर पहले तो हम इसे कवि की तेजस्वी कल्पना के विकास का अतिरेक कहकर केवल उस कविता के सौंदर्य का रस लेकर शांत हो जाते हैं, लेकिन अगर हम बारीकी से जांच करें तो इस वर्णन का गूढ़ अर्थ प्रकट होता है। अर्जुन ने कुरुवंश के साथ पहले भी युद्ध किया था लेकिन इस तरह का विचार उनके अंदर कभी नहीं उठा, अब श्रीकृष्ण की इच्छा से अचानक उनके अंदर उत्पात होने लगा। मनुष्यजाति की बहुत-सी प्रबल वृत्तियां क्षत्रिय शिक्षा और ऊंची आकांक्षा के नीचे दबकर और उनसे बंधकर अर्जुन के हृदय में गुप्त रूप से उपस्थित थीं। निग्रह से चित्त की शुद्धि नहीं होती, विवेक या शुद्ध बुद्धि की सहायता से, संयम से चित्त की शुद्धि होती है। निग्रह की वृत्ति का विचार सभी में होता है, इस जन्म में या दूसरे जन्म में वह एक-न-एक दिन चित्त से उठकर बुद्धि पर आक्रमण करके उसपर

विजय प्राप्त करके समस्त कर्म को अपने विकास के अनुसार आगे बढ़ाता है। इसी कारण जो इस जन्म में दयावान् होता है वह दूसरे जन्म में निष्ठुर होता है, जो इस जन्म में कामी और दुश्चरित्र होता है वह दूसरे जन्म में साधु और पवित्र मनवाला होता है। निग्रह न करके विवेक और विशुद्ध बुद्धि की सहायता से वृत्तियों को निकाल बाहर कर चित्त को शुद्ध करना चाहिये। इसीको संयम कहते हैं। जबतक ज्ञान के प्रभाव से तमोभाव दूर न हो जाये तबतक संयम असंभव है। इसीलिये श्रीकृष्ण अर्जुन के अज्ञान को दूर करके, सोये हुए विवेक को जगाकर, चित्त-शुद्धि करने के इच्छुक हैं। लेकिन जिन वृत्तियों को निकाल बाहर करना है उन्हें जबतक चित्त में ऊपर उठाकर बुद्धि के सामने उपस्थित न किया जाये तबतक बुद्धि भी इन्हें निकालने का अवसर नहीं पाती। और फिर युद्ध में ही अंदर स्थित दैत्य और राक्षस विवेक द्वारा नष्ट किये जाते हैं और तब विवेक बुद्धि को मुक्त करता है। योग की आरंभिक अवस्था में चित्त के अंदर बंद सभी कुप्रवृत्तियां साधक की बुद्धि पर बड़े जोर से आक्रमण करती हैं और नये साधक को भय और शोक से परेशान कर देती हैं। पश्चिम में इसीको शैतान का प्रलोभन कहते हैं, यही मार (कामदेव) का आक्रमण है। यह भय और शोक अज्ञान से पैदा होते हैं। यह प्रलोभन शैतान का नहीं, भगवान् का है। अंतर्यामी जगद्गुरु इन सब प्रवृत्तियों को साधक पर आक्रमण करने के लिये बुलाते हैं और यह उसके अमंगल के लिये नहीं, मंगल के लिये, चित्त-शुद्धि के लिये होता है। श्रीकृष्ण जहां बाह्य जगत् में शरीर से अर्जुन के सखा और सारथी थे वहां अंतर में उनके अशरीरी ईश्वर और अंतर्यामी पुरुषोत्तम भी थे। उन्होंने ही इन सब गुप्त प्रवृत्तियों और भावों को एक साथ बड़े वेग से अर्जुन की बुद्धि पर फेंका था। इस भयंकर आघात से अर्जुन की बुद्धि चक्कर खाने लगी और साथ ही कवि के वर्णन के अनुसार मानसिक विकार अर्जुन के स्थूल शरीर में प्रकट हुए। प्रबल और अप्रत्याशित शोक और दुःख शरीर में इसी तरह प्रकट होते हैं, यह तो हम जानते ही हैं। यह मनुष्यजाति के अनुभव से बाहर की चीज नहीं है। भगवान् की वैष्णवी माया ने अखंड बल से क्षण भर में अर्जुन को अभिभूत

कर दिया। इसी कारण यह प्रबल विकार पैदा हुआ। अधर्म जब दया, प्रेम आदि कोमल धर्म का रूप धारण करके आता है, अज्ञान ज्ञान का छद्मवेश पहन लेता है, गाढ़ा अंधकारपूर्ण तमोगुण जब उज्ज्वल और विशद पवित्रता का रूप धारण करके कहता है, "मैं सात्त्विक हूं, मैं ज्ञान हूं, मैं धर्म हूं, मैं भगवान् का प्रिय दूत हूं, पुण्यरूप और पुण्य प्रवर्तक हूं" तब यह समझ लेना चाहिये कि भगवान् की वैष्णवी माया बुद्धि के अंदर प्रविष्ट हुई है।

वैष्णवी माया का लक्षण

इस वैष्णवी माया के मुख्य अस्त्र हैं दया और स्नेह। मानवजाति का प्रेम और स्नेह शुद्ध वृत्तियां नहीं हैं। शारीरिक और प्राणिक कोषों के विकार के कारण पवित्र प्रेम और दया कलुषित और विकलांग हो जाते हैं। चित्त वृत्तियों का निवास स्थान है, प्राण भोग का क्षेत्र है, शरीर कर्म का यंत्र और बुद्धि चिंतन का राज्य है। शुद्ध अवस्था में इन सबकी प्रवृत्ति स्वतंत्र होती है, एक दूसरे का विरोध नहीं करती। चित्त में भाव उठता है, शरीर उसके अनुसार कर्म करता है, बुद्धि में उसके अनुसार विचार आते हैं, प्राण उसी भाव, कर्म और चिंतन का आनंद लेता है। जीव साक्षी रूप से प्रकृति की इस आनंदमयी क्रीड़ा को देखकर खुश होता है। अशुद्ध अवस्था में प्राण शारीरिक या मानसिक भोग के लिये लालायित रहता है और शरीर को कर्मयंत्र न बनाकर भोग का साधन बना लेता है। शरीर भोग में आसक्त होकर बार-बार शारीरिक भोग की मांग करता है और शारीरिक भोग की कामना में फंसकर चित्त निर्मल भाव ग्रहण करने में असमर्थ हो जाता है। कलुषित भावना से भरा भाव चित्त-सागर को क्षुब्ध कर देता है और वासना का कोलाहल बुद्धि को अभिभूत करके व्याकुल कर डालता है और उसे बहरा बना देता है। अब बुद्धि निर्मल, शांत और भ्रान्तिरहित चिंतन के लिये असमर्थ हो जाती है और असत्य के प्रबल हो जाने के कारण अंधी बन जाती है। बुद्धि भ्रष्ट होने के कारण जीव भी ज्ञानशून्य होकर साक्षी भाव और

निर्मल आनंद-भाव से वंचित होकर अपने-आपको आधार के साथ एक मान लेता है और यह सोचकर कि 'मैं चित्त हूं', 'मैं बुद्धि हूं' इस भ्रांत धारणा के कारण शारीरिक और मानसिक सुख-दुःख के साथ सुखी और दुःखी होता है। इस सारी गड़बड़ का मूल है अशुद्ध चित्त, अतः चित्तशुद्धि उन्नति का प्रथम सोपान है। यह अशुद्धि केवल राजसिक और तामसिक वृत्ति को कलुषित करके ही चुप नहीं हो जाती बल्कि सात्त्विक वृत्ति को भी कलुषित करती है। "अमुक मनुष्य मेरे शारीरिक और मानसिक भोग की सामग्री है, वह मुझे अच्छा लगता है, मैं उसीको चाहता हूं, उसके विरह से मुझे क्लेश होता है"—यह है अशुद्ध प्रेम, शरीर और प्राण ने चित्त को कलुषित करके निर्मल प्रेम को विकृत कर दिया है। इस अशुद्धि के कारण बुद्धि भी भ्रांत होकर कहती है, "अमुक मेरी स्त्री है, भाई, बहन, सखा, आत्मीय, मित्र है, उसीसे प्यार करना होगा। यही प्रेम पुण्यमय है, यदि मैं इसके विपरीत काम करूं तो वह पाप होगा, क्रूरता होगी, अधर्म होगा।" इस तरह के अशुद्ध प्रेम के फलस्वरूप इतनी बलवती दया पैदा होती है कि प्रियजनों को कष्ट देने, प्रियजनों का अनिष्ट करने की अपेक्षा स्वयं धर्म को तिलांजलि देना श्रेयस्कर मालूम होता है। अंत में इस 'दया' को चोट न पहुंचे इसलिये धर्म को अधर्म कहकर अपनी दुर्बलता का समर्थन किया जाता है। इस प्रकार की वैष्णवी माया का प्रमाण अर्जुन की बात-बात में मिलता है।

वैष्णवी माया की क्षुद्रता

अर्जुन की पहली बात यह थी कि ये हमारे स्वजन हैं, आत्मीय हैं, स्नेह के पात्र हैं, इनकी हत्या से हमारा क्या हित हो सकता है ? विजेता का गर्व, राजा का गौरव, धनी का सुख ? मुझे नहीं चाहिये ये अर्थहीन स्वार्थ। लोगों को राज्य, भोग और जीवन किसलिये प्रिय होते हैं ? हमारे स्त्री, पुत्र, कन्या हैं, हम इन नाते-रिश्तेदारों को सुख से रख सकें, बंधु-बांधवों के साथ सुख

और ऐश्वर्य से दिन बितायें—इसी चाह से सुख और महत्त्व लोभ के विषय बन जाते हैं। लेकिन हम जिनके लिये सुख और महत्त्व चाहते हैं यहां तो वही हमारे शत्रु बनकर हमारे सामने युद्ध में उपस्थित हैं। वे हमारा वध करने के लिये तो तैयार हैं पर हमारे साथ मिलकर राज्य और सुख भोगने के लिये तैयार नहीं हैं। वे भले मुझे मार डालें पर मैं उन्हें कभी न मारूंगा। अगर मुझे इनकी हत्या से तीनों लोकों का राज्य भी मिल जाये तो भी मैं यह काम न कर सकूंगा। पृथ्वी का निर्विरोध राज्य तो उसके आगे राख है। स्थूलदर्शी लोग—

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।

और—

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥

इन उक्तियों से मोहित हो जाते हैं और कहते हैं, अहो! अर्जुन का भाव कितना महान्, उदार, निःस्वार्थ और प्रेमभरा है। रक्त से सने भोग और सुख की अपेक्षा उन्हें पराजय, मरण और चिरदुःख स्वीकार है। लेकिन अगर हम अर्जुन के मनोभाव की परीक्षा करें तो पता चलेगा कि अर्जुन का मनोभाव बहुत क्षुद्र, दुर्बलता को प्रकट करनेवाला और नपुंसकों जैसा है। कुल के हित के लिये, प्रियजनों के प्रेमवश, 'करुणा' से पिघलकर, रक्तपात के भय से व्यक्तिगत स्वार्थ का त्याग अनार्य के लिये महान्, उदार भाव हो सकता है, आर्य के लिये तो वह मध्यम कोटि का भाव है। उसके लिये तो धर्म और भागवत प्रीति के लिये किया गया स्वार्थ-त्याग ही उत्तम भाव है। आर्य के लिये तो कुल के हित के लिये, प्रियजनों के प्रेमवश, करुणा के अधीन, रक्तपात के भय से धर्म का परित्याग अधम भाव है। धर्म और भगवान् की प्रीति के लिये स्नेह, करुणा और भय का दमन करना ही सच्चा आर्यभाव है। अर्जुन अपने क्षुद्र भाव का समर्थन करने के लिये, स्वजनों की हत्या

का पाप दिखाकर फिर से बोले : "कौरवों का वध करने से हमें कौन-सा सुख मिलेगा ? मन की कौन-सी तुष्टि मिलेगी ? वे हमारे बंधु-बांधव हैं, नाते-रिश्तेदार हैं। वे हमारे साथ अन्याय और शत्रुता करते हैं, राज्य छीन लेते हैं, और सत्य का गला घोंटते हैं। फिर भी उनकी हत्या से हमें पाप ही लगेगा, सुख न मिलेगा।" अर्जुन यह भूल गये कि वे धर्मयुद्ध में लगे हैं, अपने निजी या युधिष्ठिर के सुख के लिये नहीं। श्रीकृष्ण ने उन्हें कौरवों की हत्या के लिये नहीं भेजा है। इस युद्ध का उद्देश्य है धर्म की स्थापना, अधर्म का नाश, क्षत्रियधर्म-पालन, भारत में धर्म पर आधारित एक महान् साम्राज्य की स्थापना। अर्जुन का कर्तव्य था सारे सुखों को तिलांजलि देकर, आजीवन दुःख और यंत्रणा भोगकर भी इस उद्देश्य को पूरा करना।

कुलनाश की बात

लेकिन अपनी दुर्बलता की पुष्टि के लिये अर्जुन ने एक और उच्चतर युक्ति खोज निकाली, इस युद्ध से कुलनाश और जातिनाश होगा, इसलिये यह युद्ध धर्मयुद्ध नहीं, अधर्मयुद्ध है। भाइयों की हत्या से, मित्रद्रोह से, यानी जो स्वभाव से हमारे अनुकूल और सहायक हैं, उन्हींका अनिष्ट करना है, और फिर, अपने ही कुल अर्थात्, जिस कुरुनायक क्षत्रिय वंश और जाति में दोनों पक्षों का जन्म हुआ है उन्हींका विनाश करना है। प्राचीन काल की जातियां प्रायः रक्त के संबंध से बनी थीं। एक महान् कुल बढ़कर जाति बन जाता था, जैसे भोजवंश, कुरुवंश इत्यादि भारत जाति में कुलविशेष की प्रत्येक बलशाली जाति बन गये थे। कुल के अंदर के अंतर्विरोध और परस्पर अनिष्ट की भावना को ही अर्जुन ने मित्रद्रोह कहा। एक तो मित्रद्रोह नैतिक दृष्टि से महापाप है, उसपर अर्थनीति की दृष्टि से इस मित्रद्रोह में एक महान् दोष यह है कि कुलक्षय इसका निश्चित परिणाम है। सनातन कुलधर्म का अच्छी तरह पालन करना कुल की उन्नति और उसकी स्थिति का कारण है, गृहस्थ जीवन और राजनीति के क्षेत्र में पितर जिस महान् आदर्श और

कर्मशृंखला की स्थापना और रक्षा करते आ रहे हैं, उसी आदर्श की हानि या शृंखला के ढीले पड़ जाने से कुल का पतन हो जाता है। जबतक कुल सौभाग्यशाली और बलवान् रहता है तबतक ये आदर्श और कर्मशृंखला बचे रहते हैं, कुल के क्षीण और दुर्बल हो जाने से, तमोभाव के फैल जाने से धर्म में बहुत शिथिलता आ जाती है, उसके फलस्वरूप अराजकता छा जाती है, दुर्नीति इत्यादि दोष कुल में आ जाते हैं, कुल की स्त्रियां दुश्चरित्र हो जाती हैं, इससे कुल की पवित्रता नष्ट हो जाती है, नीच जाति और नीच चरित्र लोगों के सहवास से महान् कुल में वर्णसंकर पैदा होते हैं। इस तरह पितरों की प्रकृत या शास्त्रानुकूल संतति के नाश होने से कुलनाशकों को नरक भोगना पड़ता है और अधर्म के फैलने और वर्णसंकर से पैदा हुई नैतिक अधोगति और नीच गुण के फैलाव और अराजकता के दोष से सारे कुल का भी विनाश होता है और वह नरक में जाता है। कुलनाश से जातिधर्म और कुलधर्म दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। जातिधर्म का अर्थ है सारी कुल-समष्टि में जो महान् जाति होती है उसका पुरुष-परंपरा से चला आया सनातन आदर्श और कर्मशृंखला। इसके बाद अर्जुन फिर से अपने पहले सिद्धांत और कर्तव्यकर्म के बारे में अपना निश्चय बताकर ठीक युद्ध के समय गाण्डीव छोड़कर रथ में बैठ गये। कवि ने इस अध्याय के अंतिम श्लोक में इशारा करके यह बात बतलायी कि दुःख से उसे बुद्धि-भ्रम हो गया था इसीलिये अर्जुन इस तरह क्षत्रिय के लिये अनुचित और अनार्य तरीके से आचरण करने के लिये कृतसंकल्प थे।

विद्या और अविद्या

अर्जुन के कुलविनाश के विषय की बात में हम एक बड़े और ऊंचे विचार की छाया देख सकते हैं, इस विचार के साथ जो महान् प्रश्न जुड़ा है, उसकी आलोचना करना गीता के व्याख्याकार के लिये बहुत जरूरी है। अगर हम गीता के केवल आध्यात्मिक अर्थ को ही ढूंढ़े, अपने जातीय, गृहस्थ और

व्यक्तिगत सांसारिक कर्म और आदर्श को गीता में कहे हुए धर्म से पूरी तरह से काट दें तो हम उस विचार और उस प्रश्न की महानता और आवश्यकता को अस्वीकार करेंगे और गीता में बताये धर्म के सर्वव्यापी विस्तार को छोटा कर देंगे। शंकर से लेकर जिन-जिन लोगों ने गीता की व्याख्या की, वे सब संसार से मुंह मोड़े हुए दार्शनिक, अध्यात्मविद्या के ज्ञानी या भक्त थे, उन्होंने गीता में आवश्यक ज्ञान और विचारों को ढूंढ़ कर उनके अपने लिये जो जरूरी था उसीसे लाभ उठाया और संतुष्ट हो गये। जो एक साथ ज्ञानी, भक्त और कर्मी हैं वही गीता की गूढ़तम शिक्षा के अधिकारी हैं। गीता के वक्ता श्रीकृष्ण ज्ञानी और कर्मी थे, गीता के पात्र अर्जुन भक्त और कर्मी थे, उनके ज्ञान के चक्षु खोलने के लिये श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र में यह शिक्षा दी। गीता के उपदेश का कारण एक महान् राजनीतिक संघर्ष था, उस संघर्ष में अर्जुन को महान् राजनीतिक उद्देश्य की सिद्धि के यंत्र और निमित्त के रूप में युद्ध के लिये तैयार करना ही गीता का उद्देश्य था, युद्धक्षेत्र ही उसकी शिक्षा का स्थल था। श्रीकृष्ण श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ और योद्धा थे। धर्म के राज्य की स्थापना करना ही उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य था, अर्जुन भी क्षत्रिय राजकुमार था, राजनीति और युद्ध उसके स्वभावोचित कर्म थे। गीता के उद्देश्य को हटाकर, गीता के वक्ता, पात्र और उसके उपदेश के कारण को अलग कर गीता की व्याख्या करने से कैसे काम चल सकता है भला ?

मानव संसार में चिरकाल से पांच मुख्य आधार मौजूद हैं। व्यक्ति, परिवार, वंश, जाति और मानवसमष्टि। इन्हीं पांच आधारों पर धर्म खड़ा है। धर्म का उद्देश्य है भगवत्प्राप्ति। भगवान् को पाने के दो रास्ते हैं, विद्या को पाना और अविद्या को भी पाना—ये दोनों ही आत्मज्ञान और भगवद्दर्शन के उपाय हैं। विद्या का रास्ता है ब्रह्म की अभिव्यक्ति, अविद्यामय प्रपंच का त्याग करके सच्चिदानन्द की प्राप्ति या परब्रह्म में लय। अविद्या का मार्ग है हर जगह आत्मा और भगवान् के दर्शन करके, ज्ञानमय, मंगलमय, शक्तिमय परमेश्वर को बंधु, प्रभु, गुरु, पिता, माता, पुत्र, कन्या, दास, प्रेमी, पति और पत्नी के रूप में प्राप्त करना। विद्या का उद्देश्य है शांति, अविद्या

का उद्देश्य है प्रेम। लेकिन भगवान् की प्रकृति विद्यामयी और अविद्यामयी दोनों है। अगर हम केवल विद्या के मार्ग पर चलें तो हम विद्यामय ब्रह्म को प्राप्त होंगे, अगर केवल अविद्या के मार्ग पर चलें तो अविद्यामय ब्रह्म को प्राप्त होंगे; जो विद्या और अविद्या दोनों को पा लेते हैं वही संपूर्ण भाव से वासुदेव को पाते हैं, वे विद्या और अविद्या से परे हैं। जो विद्या के अंतिम लक्ष्यतक पहुंच गये हैं उन्होंने ही विद्या की सहायता से अविद्या को पा लिया है। ईश उपनिषद् में इस महान् सत्य को बहुत स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है, जैसे—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥
विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

"जो अविद्या के उपासक हैं, वे अंधे, अज्ञानरूपी तम में प्रवेश करते हैं। वे धीर ज्ञानी जिन्होंने हमें ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया है उनके मुख से यह सुना है कि विद्या और अविद्या दोनों का फल मिलता है। ये दोनों फल स्वतंत्र हैं। जो विद्या और अविद्या दोनों के ज्ञान को पा सके हैं, वे ही अविद्या द्वारा मृत्यु को पारकर विद्या द्वारा अमृतमय, पुरुषोत्तम के आनंद का उपभोग करते हैं।"

सारी मानव जाति अविद्या का भोग कर, विद्या की दिशा में बढ़ रही है। यही स्वाभाविक क्रम-विकास है। जो श्रेष्ठ साधक, योगी, ज्ञानी, भक्त, कर्म-योगी हैं वे इस महान् अभियान के अग्रगामी सैनिक हैं, वे दूर के उस गंतव्य स्थान पर तेजी से जाकर लौट आते हैं और मानवजाति को सुसंवाद सुनाते हैं, उसका पथ-प्रदर्शन करते हैं, चारों तरफ शक्ति फैलाते हैं। भगवान् के अवतार या विभूति आकर रास्ते को सरल बना देते हैं। अनुकूल

अवस्था की रचना करते हैं और बाधा को नष्ट कर देते हैं। अविद्या में विद्या, भोग में त्याग, संसार में संन्यास, आत्मा के अंदर सभी प्राणी, सभी प्राणियों के अंदर आत्मा, भगवान् में जगत्, जगत् में भगवान्—यही उपलब्धि असली ज्ञान है। यही मानव जाति का अपने गंतव्य स्थान की ओर जाने का निर्दिष्ट पथ है। आत्मज्ञान की संकीर्णता ही उन्नति की मुख्य बाधा है, उस संकीर्णता का मूल कारण है देहात्मकबोध और स्वार्थबोध, इसलिये, दूसरे को अपने जैसा देखना उन्नति की पहली सीढ़ी है। मनुष्य पहले व्यक्ति होकर रहता है, अपनी व्यक्तिगत शारीरिक और मानसिक उन्नति, भोग और शक्ति को बढ़ाने में लगा रहता है। मैं देह हूं, मैं मन हूं, मैं प्राण हूं, देह का बल, सुख और सौंदर्य, मन की तेजी, आनंद और स्वच्छता, प्राण का तेज, योग और प्रफुल्लता—ये ही जीवन के उद्देश्य और उन्नति की परम अवस्था हैं,—यह मनुष्य का पहला और आसुरिक ज्ञान है। उसकी भी उपयोगिता है; पहले देह, मन और प्राण को विकसित और पूर्ण बनाकर, उसके बाद पूरी तरह से विकसित उस शक्ति को दूसरों की सेवा में लगाना उचित है। इसीलिये आसुरिक शक्ति का विकास मानव जाति की सभ्यता की पहली अवस्था है; पशु, यक्ष, राक्षस, असुर, पिशाच तक मनुष्य के मन, कर्म और चरित्र में लीला करते और पनपते हैं। उसके बाद मनुष्य आत्मज्ञान का विस्तार करके दूसरे को अपने जैसा देखना शुरू करता है, दूसरों की सेवा में स्वार्थ को डुबाना सीखता है। पहले परिवार को ही अपने जैसा देखता है, पत्नी और संतान के प्राणों की रक्षा के लिये अपने प्राण त्याग देता है, पत्नी और संतान के सुख के लिये अपने सुख की जलांजलि देता है। उसके बाद वंश या कुल को अपने जैसा देखता है, कुल की रक्षा के लिये अपने प्राणत्याग करता है, स्वयं की, पत्नी, संतान की बलि देता है। कुल के सुख, गौरव और उन्नति के लिये अपने और स्त्री और बच्चों के सुख की जलांजलि देता है। उसके बाद जाति को अपने जैसा देखता है, जाति की रक्षा के लिये प्राणत्याग करता है, अपनी और स्त्री और बच्चों की, कुल की बलि देता है—जिस तरह चित्तौड़ के राजपूत कुल ने सारी राजपूत जाति की रक्षा के लिये बार-बार अपनी इच्छा से अपनी बलि चढ़ाई थी—वह जाति

के सुख और गौरव की वृद्धि के लिये अपनी, स्त्री और बच्चों की, कुल के सुख और गौरव की, वृद्धि की जलांजलि देता है। उसके बाद समस्त मानवजाति को अपने समान देखता है, मानवजाति की उन्नति के लिये प्राणत्याग करता है, अपनी, पुत्र-कलत्र की, कुल और जाति की बलि देता है। मानवजाति के सुख और उन्नति के लिये अपनी, पुत्र-कलत्र की, कुल और जाति के सुख, गौरव और वृद्धि की जलांजलि देता है। इस भांति दूसरे को अपने रूप में देखना, दूसरे के लिये अपनी और अपने सुख की बलि देना बौद्ध धर्म और बौद्ध धर्म से जन्मे ईसाई धर्म की मुख्य शिक्षा है। यूरोप की नैतिक उन्नति इसी पथ पर आगे बढ़ी है। प्राचीन यूरोपीय ने व्यक्ति को परिवार के लिये डुबा देना, परिवार को कुल के लिये डुबा देना सीखा था। आधुनिक यूरोपीय ने कुल को जाति में डुबाना सीखा है। अब उनमें यह मान्यता है कि जाति को मानव समाज में डुबाना कठिन आदर्श है। टॉलस्टाय आदि मनीषी और समाजवादी, अराजकतावादी आदि नये आदर्शों के अनुयायी इस आदर्श को कार्य में परिणत करने के लिये उत्सुक हैं—यहीं तक यूरोप की दौड़ है। वे अविद्या के उपासक, सच्ची विद्या से परिचित नहीं हैं। *अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते*।

भारत के मनीषियों ने विद्या और अविद्या दोनों को प्राप्त किया है। वे जानते हैं कि अविद्या के पांच आधारों से भिन्न विद्या के आधार भगवान् हैं; उन्हें जाने बिना अविद्या को भी नहीं जाना जाता, प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः उन्होंने केवल औरों को अपने समान न देखकर, *आत्मवत् परदेहेषु* अर्थात्, अपने अन्दर और दूसरे के अन्दर समान रूप से भगवान् के दर्शन किये हैं। अपना उत्कर्ष करूंगा, अपनी समृद्धि करने से परिवार की समृद्धि होगी, परिवार की समृद्धि से कुल की समृद्धि होगी। राष्ट्र का उत्कर्ष करूंगा, राष्ट्र की समृद्धि से सारी मानवजाति की समृद्धि होगी। यह ज्ञान आर्यों की सामाजिक व्यवस्था और शिक्षा की जड़ों में बसा है। व्यक्तिगत त्याग तो आर्यों की मज्जा में बसा है, इसका उन्हें अभ्यास है, परिवार के लिये त्याग, कुल के लिये त्याग, समाज के लिये त्याग, मानवजाति के लिये त्याग, भगवान् के लिये त्याग। हमारी शिक्षा में जो दोष या न्यूनताएं

दिखायी देती हैं ये कुछ ऐतिहासिक कारणों के फल हैं; जैसे राष्ट्र को हम समाज के भीतर देखते हैं। समाज-हित के लिये हम व्यक्ति के और परिवार के हित को छोड़ सकते हैं किंतु राष्ट्र की राजनीति के जीवन-विकास को हमारे यहां धर्म के अन्तर्गत मुख्य अंग नहीं माना गया है, हमें पश्चिम से इस शिक्षा का आयात करना पड़ा। हमारी प्राचीन शिक्षा में महाभारत, गीता, राजस्थान का इतिहास, रामदास का दासबोध—यह शिक्षा हमारे देश की ही थी। विद्या की बहुत अधिक उपासना से, अविद्या के भय से हम उस शिक्षा को विकसित नहीं कर पाये, उस दोष के कारण तमग्रस्त होकर, राष्ट्रधर्म से च्युत होकर भयंकर दासता, दुःख और अज्ञान में जा गिरे। हमने अविद्या भी नहीं पायी और विद्या से भी हाथ धो बैठे—*ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः*।

श्रीकृष्ण का राजनीतिक उद्देश्य

मानव समाज के क्रमिक विकास में कुल और राष्ट्र भिन्न-भिन्न हैं। प्राचीन-काल में भारत और दूसरे देशों में भी यह भिन्नता इतनी खिली नहीं थी। कई बड़े-बड़े कुल के इकट्ठे होने से एक राष्ट्र खड़ा हो जाता था। वे विभिन्न कुल या तो एक ही पूर्व पुरुष के वंशधर होते थे या भिन्न वंश के होने पर भी, अपने प्रेम के संबंध की दृढ़ स्थापना के कारण एक वंश के ही माने जाते थे। पूरा भारत एक बड़ा राष्ट्र नहीं बन पाया लेकिन सारे देश में जो बड़ी-बड़ी जातियां छायी हुई थीं उनके बीच एक ही सभ्यता, एक ही धर्म, एक ही संस्कृत भाषा और विवाह इत्यादि के संबंध प्रचलित थे। फिर भी प्राचीन काल से एकता का प्रयास चला आ रहा है। कभी कुरु, कभी पांचाल, कभी कौशल, तो कभी मगध जाति देश की नेता या सार्वभौम राजा बनकर राज्य करती थी, लेकिन प्राचीन कुलधर्म और कुल की मुक्ति-प्रियता एकता के लिये इतनी कठिन बाधाएं पैदा करती थीं कि यह प्रयास कभी बहुत समय तक टिक नहीं पाया। भारत में एकता का प्रयास,

एकछत्र साम्राज्य का प्रयास, पुण्यकर्म और राजा के कर्तव्य-कर्म के रूप में माना जाता था। एकता का यह स्रोत इतना बलशाली हो गया था कि चेदिराज शिशुपाल जैसा तेजस्वी और प्रचंड क्षत्रिय भी युधिष्ठिर द्वारा राज्य की स्थापना को पुण्यकर्म कहकर उसमें सहयोग देने के लिये सहमत हो गया। इसी तरह से एकत्व, साम्राज्य और धर्मराज्य की स्थापना करना ही श्रीकृष्ण का राजनीतिक उद्देश्य था। पहले मगधराज जरासंध ने यही प्रयास किया था, लेकिन उसकी शक्ति अधर्म और अत्याचार पर टिकी थी, इसलिये उसे क्षणिक समझकर श्रीकृष्ण ने भीम द्वारा उसकी हत्या करवाकर उसके इस प्रयास को विफल बनाया। श्रीकृष्ण के कार्य के लिये मुख्य बाधा थी गर्वीला और तेजस्वी कुरुवंश। कुरुजाति बहुत दिनों से भारत का नेतृत्व करनेवाली जाति रही थी, अंग्रेजी में जिसे (हेगेमोनी) कहते हैं, यानी बहुत-सी एक समान स्वाधीन जातियों के बीच प्रमुख, नेतृत्व करनेवाली जाति। कुरुजाति का इसपर पुरुष परंपरागत अधिकार हो गया था। श्रीकृष्ण यह जानते थे कि जबतक इस जाति का बल और गर्व अक्षुण्ण बना रहेगा तबतक भारतवर्ष में कभी एकता की स्थापना नहीं होगी। इसीलिये वे कुरुजाति का नाश करने के लिये कटिबद्ध हो गये। लेकिन श्रीकृष्ण यह बात भी नहीं भूले थे कि भारत के साम्राज्य में कुरुजाति का पुरुष-परंपरागत अधिकार था; धर्मानुसार जो चीज जिसे मिलनी चाहिये उससे व्यक्ति को वंचित करना अधर्म है इसलिये न्यायसंगत रूप से जो कुरुजाति के राजा और प्रधान थे, उन युधिष्ठिर को उन्होंने भावी सम्राट् के पद के लिये मनोनीत किया।

श्रीकृष्ण परम धार्मिक थे, समर्थ होते हुए भी, स्नेह के वश में आकर अपने प्रिय यादव कुल को कुरुजाति के स्थान पर बिठाने का प्रयास नहीं किया, पांडवों में ज्येष्ठ युधिष्ठिर की अवहेलना कर, अपने प्रियतम सखा अर्जुन को उस पद पर नियुक्त नहीं किया। लेकिन, केवल उम्र या पूर्व अधिकार देखने से अनिष्ट की संभावना होती है, गुण और सामर्थ्य भी देखना होता है। अगर राजा युधिष्ठिर अधार्मिक, अत्याचारी या अशक्त होते तो श्रीकृष्ण किसी दूसरे पात्र को ढूंढ़ने के लिये विवश होते। जिस तरह

युधिष्ठिर वंशक्रम में, न्याय के अनुसार अधिकारी और देश के पूर्व प्रचलित नियम के अनुसार सम्राट् बनने के उपयुक्त थे, उसी तरह गुण में भी वे उस पद के सच्चे अधिकारी थे। उनकी अपेक्षा तेजस्वी और प्रतिभावान् और भी कई बड़े-बड़े वीर राजा थे, लेकिन केवल बल और प्रतिभा से तो कोई राज्य का अधिकारी नहीं बन जाता। राजा को धर्मरक्षा करनी होती है, प्रजारंजन करना होता है, देशरक्षा करनी होती है। पहले दो गुण युधिष्ठिर में अतुलनीय थे, वे धर्मपुत्र थे, वे दयावान्, न्यायपरायण, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ और सत्यकर्म करनेवाले थे, प्रजा को बहुत प्रिय थे। दूसरे जिन आवश्यक गुणों की उनमें कमी थी, उसे पूरा करने के लिये उनके दो वीर भाई भीम और अर्जुन समर्थ थे। पंचपांडव के जैसा पराक्रमी राजा या वीर पुरुष उस समय के भारत में नहीं था। इसीलिये जरासंध को मारकर कांटे को उखाड़ फेंक, श्रीकृष्ण के परामर्श से राजा युधिष्ठिर ने देश की प्राचीन प्रणाली का अनुसरण कर राजसूय यज्ञ किया और वे देश के सम्राट् हुए।

श्रीकृष्ण धार्मिक और राजनीति जाननेवाले थे। अगर देश के धर्म, देश की प्रणाली, देश के सामाजिक नियम के अंदर कर्म करके उनके महान् उद्देश्य के सिद्ध होने की संभावना होती तो वे धर्म की हानि, उस प्रणाली के विरुद्ध आचरण, उस नियम को भला तोड़ते क्यों ? बिना किसी कारण इस तरह राष्ट्रक्रांति और समाजक्रांति करना देश के लिये हानिकर होता है। इसी कारण उन्होंने पहले पुरानी प्रणाली की रक्षा करके उद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रयास किया, लेकिन देश की प्राचीन प्रणाली में यह दोष था कि उनके प्रयास के सफल हो जाने पर भी उस फल के स्थायी होने की संभावना बहुत कम थी। जिनके पास युद्ध का बल अधिक था वे राजसूय यज्ञ करके सम्राट् तो बन सकते थे लेकिन उनके वंशधरों के तेज के मंद पड़ने से ही वह मुकुट उनके मस्तक से खुद ही खिसक कर गिर पड़ता। जो तेजस्वी वीर जातियां उनके पिता या पितामह के वंश में हुई थीं वे भला अब विजयी के पुत्र या पौत्र की अधीनता क्यों स्वीकार करतीं ? यानी उस साम्राज्य का मूल वंशगत अधिकार नहीं, राजसूय यज्ञ अर्थात् असाधारण बलवीर्य ही था; जिनका अधिक बलवीर्य था वे ही यज्ञ करके सम्राट् बन

जाते थे। इसलिये साम्राज्य के स्थायी भाव की कोई आशा न थी। इस तरह थोड़े समय के लिये ही प्रधानता हो सकती है। इस प्रथा में दूसरा दोष यह था कि अचानक सम्राट् के बल के बढ़ जाने और प्रधानता प्राप्त करने से देश के गर्वीले, असहिष्णु, तेजस्वी क्षत्रियों के हृदय में ईर्ष्या की आग भड़क उठती, उनके मन में सहज ही इस विचार के उठने की संभावना रहती कि ये क्यों प्रधान हों, हम क्यों नहीं ? स्वयं युधिष्ठिर के अपने कुल के क्षत्रियों ने इसी ईर्ष्या से उसके विरोध में आचरण किया, उसके चाचा की संतानों ने इस ईर्ष्या के कारण बड़े कौशल के साथ उसे पदच्युत और निर्वासित किया। द्वेष की प्रणाली का यह दोष कुछ ही दिनों में प्रकट हो गया।

श्रीकृष्ण जैसे धार्मिक थे, वैसे ही राजनीति जाननेवाले भी थे। वे कभी भी दोषी, अहितकर या समय की अनुपयोगी प्रणाली, उपाय या नियम को बदलने में पीछे न हटते थे। वे अपने युग के प्रधान क्रांतिकारी थे। राजा भूरिश्रवा ने श्रीकृष्ण की भर्त्सना करते समय उस समय के पुराने मत के कई भारतवासियों के आक्रोश को व्यक्त करते हुए कहा था कि कृष्ण और कृष्ण द्वारा चलाया हुआ यादवकुल कभी भी धर्मविरुद्ध आचरण करने या धर्म को विकृत करने में हिचकिचाता नहीं, जो कृष्ण के परामर्श से काम करेगा वह निश्चित रूप से तुरंत पाप में जा गिरेगा। क्योंकि, पुरानी रीति से चिपके हुए रक्षा करनेवालों के मत के अनुसार नया प्रयास ही पाप है। श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के पतन से समझ गये—उन्हें समझना क्या था, वे तो भगवान् थे, पहले से ही जानते थे कि द्वापर युग की उपयोगी प्रथा कलि में कभी सुरक्षित रखने योग्य नहीं होती। इसलिये उन्होंने फिर उस तरह का प्रयास नहीं किया, कलि की उचित भेददण्ड प्रधान राजनीति का अनुसरण करके गर्वीली, घमंडी, क्षत्रिय जाति के बल का नाश करके, आनेवाले साम्राज्य को निष्कंटक करने का प्रयास किया। उन्होंने कुरु के पुराने, समकक्ष राष्ट्र पांचाल को कुरुवंश का ध्वंस करने के लिये प्रेरित किया, जितनी जातियां कुरुओं से द्वेष के कारण युधिष्ठिर के प्रेम द्वारा या धर्मराज्य या एकत्व की आकांक्षा से खिंच सकती थीं, उन सभी को इस पक्ष में खींच

लाये और उन्हें युद्ध में लगा दिया। संधि का जो प्रयास हुआ उसमें श्रीकृष्ण की आस्था न थी, वे जानते थे कि संधि की संभावना नहीं है, संधि के हो जाने पर भी वह स्थायी नहीं रह सकती, फिर भी, धर्म और राजनीति के लिये उन्होंने संधि का प्रयास किया। इसमें संदेह नहीं कि कुरुक्षेत्र का युद्ध श्रीकृष्ण की राजनीति का फल था, और कुरुध्वंस, क्षत्रियध्वंस और निष्कंटक साम्राज्य और भारत की एकता की स्थापना थी उनका उद्देश्य। धर्मराज्य की स्थापना के लिये जो युद्ध होता है वही है धर्मयुद्ध, उसी धर्मयुद्ध के ईश्वर द्वारा नियत विजेता, दिव्यशक्ति से अनुप्राणित महारथी थे अर्जुन। अर्जुन के अस्त्र के त्याग करने से, श्रीकृष्ण का राजनीतिक परिश्रम पंगु हो जाता, भारत में एकता नहीं आ पाती, और तुरंत देश के भविष्य में भयंकर दुष्परिणाम आ जाते।

भ्रातृवध और कुलनाश

अर्जुन ने जो कुछ कहा, कुल के हित की आशा से कहा, स्नेह के कारण जाति के हित की चिन्ता उसके मन से दूर हो गयी। कुरुवंश के हित की बात सोचने में भारत के हित की बात रह गयी, अधर्म के भय से वे धर्म की जलांजलि देने को कटिबद्ध हो गये थे। यह बात सबको मालूम है कि स्वार्थ के लिये भाई की हत्या करना महापाप है, लेकिन भाई के प्रेम के वश में आकर जाति के अनर्थ में सहायक होना, जाति के हित से मुंह मोड़ना, यह तो और भी बड़ा पाप है। अगर अर्जुन शस्त्र का त्याग करते तो अधर्म की जीत होती, दुर्योधन भारत का प्रधान राजा और सारे देश का नेता बनकर जाति के चरित्र और क्षत्रिय कुल के आचरण को अपने बुरे दृष्टांत से कलुषित कर देता, भारत के सभी प्रबल, पराक्रमी कुल स्वार्थ, ईर्ष्या और विरोधप्रियता की प्रेरणा से एक दूसरे के विनाश के लिये उद्यत हो जाते, तब धर्म से प्रेरित ऐसी कोई एकछत्र राजशक्ति न रहती जो देश को एकत्र और नियंत्रित कर उसकी शक्ति को इकट्ठा करके उसकी सुरक्षा कर पाती।

ऐसी स्थिति में जो विदेशी आक्रमण रुद्ध समुद्र की तरह भारत पर टूट कर उसे बहा देने के लिये तैयार खड़ा था वह असमय आकर आर्य सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट करके जगत् के भावी हित की आशा को जड़ से उखाड़ फेंकता। श्रीकृष्ण और अर्जुन द्वारा स्थापित राज्य के नाश के दो हजार वर्ष बाद भारत में जिस राजनीतिक उत्पात की शुरूआत हुई थी, वह उसी समय शुरू हो जाता।

लोग कहते हैं कि अर्जुन ने जिस अनिष्ट के डर से यह आपत्ति उठायी थी, कुरुक्षेत्र के युद्ध के फलस्वरूप ठीक वही अनिष्ट पैदा हो गया। कुरुक्षेत्र के युद्ध का फल हुआ भ्रातृवध से कुलनाश, जातिनाश तक। कुरुक्षेत्र का युद्ध कलि के आरंभ का कारण बना। यह सच है कि इस युद्ध में भयंकर भ्रातृवध हुआ। लेकिन प्रश्न यह है कि अब किस उपाय से श्रीकृष्ण का महान् उद्देश्य सिद्ध होता? इसीलिये श्रीकृष्ण ने संधि प्रस्तावना की विफलता को जानते हुए भी संधि करने के लिये बहुत कोशिश की, यहां तक कि पांच गांव वापस मिल जाने पर भी युधिष्ठिर युद्ध न करते, पैर रखने भर की जगह मिल जाने पर भी श्रीकृष्ण धर्मराज्य की स्थापना कर सकते थे। लेकिन दुर्योधन का यह दृढ़ निश्चय था कि युद्ध के बिना सूई की नोक बराबर भी जमीन नहीं दूंगा। जब सारे देश का भविष्य युद्ध के फल पर निर्भर हो तो यह कहकर कि इस युद्ध में भाई की हत्या होगी, महान् कर्म से पीछे हटना ही अधर्म है। परिवार के हित को राष्ट्र के हित में, जगत् के हित में डुबाना होता है; भाई के स्नेह, परिवार के प्रेम के मोह में आकर करोड़ों लोगों का सर्वनाश नहीं किया जा सकता, करोड़ों के भावी सुख या दुःखमोचन को नष्ट नहीं किया जा सकता, इससे व्यक्ति और कुल नरक में जाते हैं।

यह बात भी सच है कि कुरुक्षेत्र के युद्ध में कुलनाश हुआ था, इस युद्ध के फलस्वरूप महाप्रतापी कुरुवंश का एक तरह से लोप हो गया लेकिन, अगर कुरुजाति के लोप से सारे भारत की रक्षा हुई, तो कुरुध्वंस से हानि नहीं, लाभ ही हुआ है। जिस तरह से पारिवारिक प्रेममाया होती है, उसी तरह कुल की भी माया होती है। देशभाई को कुछ नहीं कहेंगे, देशवासी का

विरोध नहीं करेंगे, अनिष्ट करने पर भी, आततायी होने पर भी, देश का सर्वनाश करने पर भी वे हमारे भाई हैं, स्नेही हैं, हम चुपचाप सह लेंगे; हमारे बीच इस वैष्णवी माया से उत्पन्न जो अधर्म धर्म का स्वांग रचकर, बहुतों की बुद्धि भ्रष्ट कर देता है, वह इस कुल की माया के मोह से उत्पन्न होता है। बिना कारण या स्वार्थ के लिये, बिना किसी प्रयोजन या आवश्यकता के देशभाई का विरोध और उसके साथ कलह करना अधर्म है, लेकिन जो देशभाई सबकी मां के प्राण ले रहा हो या उसका अनिष्ट करने पर उतारू हो उसका अत्याचार चुपचाप सह लेना, उस मातृहत्या या अनिष्ट आचरण को बढ़ावा देना और भी बड़ा पाप है। जब शिवाजी मुसलमानों की सहायता करनेवाले अपने देशभाइयों को मारने गये तो अगर उस समय कोई कहता, आह! क्या करते हो? ये देशभाई हैं, चुपचाप सह लो, मुसलमान महाराष्ट्र पर अधिकार करते हैं तो करें, मराठे मराठे के बीच प्रेम बना रहे यही काफी है तो क्या बात एकदम से हास्यकर नहीं लगती? जब अमेरिका के लोगों ने दासप्रथा हटाने के लिये देश में विरोध और गृहयुद्ध उत्पन्न कर, हजारों देशभाइयों के प्राण लिये, तो क्या उन्होंने कोई कुकर्म किया था? कई बार देशभाइयों का विरोध, देशभाइयों का युद्ध में वध करना ही जाति की भलाई और जगत् की भलाई का एकमात्र उपाय होता है। इससे कुलनाश की आशंका होने पर भी जाति और जगत् की भलाई से मुंह नहीं मोड़ा जा सकता। अगर कुल की रक्षा करना राष्ट्र की भलाई के लिये आवश्यक हो तो समस्या अधिक जटिल हो जाती है। महाभारत-युग में भारत में राष्ट्र की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी, सब कुल को ही मनुष्यजाति का केंद्र मानते थे। इसीलिये भीष्म, द्रोण इत्यादि जो पुरातन विद्या की खान थे, उन्होंने पांडव के विरोध में युद्ध किया। वे जानते थे कि धर्म पांडवों के पक्ष में है, यह भी जानते थे कि महान् साम्राज्य की स्थापना के लिये पूरे भारत को एक केंद्र में बांधने की आवश्यकता थी। लेकिन वह यह भी समझते थे कि कुल ही धर्म की प्रतिष्ठा और जाति का केंद्र है, कुल के नाश से धर्म की रक्षा और जाति की स्थापना करना असंभव है। अर्जुन भी उसी भ्रम में पड़े थे कि इस युग में जाति ही धर्म की प्रतिष्ठा,

मानवसमाज का केंद्र है। जाति की रक्षा ही इस युग का प्रधान धर्म है, इस युग में जाति का नाश ऐसा महापाप है जिसे मिटाया नहीं जा सकता। लेकिन ऐसा युग भी आ सकता है जब एक अधिक महान् मानव समाज प्रतिष्ठित हो जाये, तब हो सकता है कि जगत् के बड़े-बड़े ज्ञानी और कर्मी राष्ट्र की रक्षा के लिये युद्ध करें और दूसरे पक्ष में श्रीकृष्ण क्रांतिकारी बनकर नया कुरुक्षेत्र युद्ध करके जगत् की भलाई करें।

श्रीकृष्ण की राजनीति का फल

पहले करुणा के आवेश में आकर अर्जुन ने कुलनाश की बात पर अधिक जोर दिया था, क्योंकि ऐसी बड़ी सेना को इकट्ठा देख, कुल की चिंता और राष्ट्र की चिंता अपने-आप ही मन में उठती है। कहते हैं कि उस समय के भारतवासी के लिये कुल की भलाई की चिंता उसी तरह स्वाभाविक थी जिस तरह राष्ट्र की भलाई की चिंता करना आधुनिक मनुष्यजाति के लिये स्वाभाविक है। लेकिन क्या यह आशंका निर्मूल थी कि कुल का नाश होने से राष्ट्र की प्रतिष्ठा नष्ट हो जायेगी ? कई कहते हैं कि अर्जुन को जिस बात का भय था, वास्तव में वही हुआ, कुरुक्षेत्र का युद्ध भारत की अवनति और बहुत समय की पराधीनता का मूल कारण था। तेजस्वी क्षत्रिय वंश के लोप से, क्षात्रतेज के ह्रास से भारत का बहुत अमंगल हुआ। एक विख्यात विदेशी महिला को—जिनके श्रीचरणों में बहुत से हिंदू शिष्य भाव से झुकते हैं—यह कहने में जरा भी संकोच नहीं होता कि क्षत्रिय का नाश करके, अंग्रेज साम्राज्य की स्थापना को ज्यादा सरल बनाना ही स्वयं भगवान् के अवतार लेने का असली कारण था। हमारे विचार से जो ऐसी ऊटपटांग बातें करते हैं वे विषय की गहराई में न जाकर, बहुत ही तुच्छ राजनीतिक तत्त्व के वश में आकर, श्रीकृष्ण की राजनीति का दोष दिखाते हैं। यह राजनीतिक तत्त्व म्लेच्छविद्या है जो अनार्य चिंतन से पैदा होती है। अनार्य आसुरिक बल से बलवान् होते हैं, उसी बल को वे स्वाधीनता और राष्ट्र के

महत्त्व का एकमात्र आधार मानते हैं।

राष्ट्र का महत्त्व केवल क्षत्रिय के तेज पर टिका नहीं रह सकता, चारों वर्णों के चारों तेज ही इसके महत्त्व के आधार हैं। सात्त्विक ब्रह्मतेज, राजसिक क्षत्रिय-तेज को ज्ञान, विनय और दूसरों की भलाई की चिंता की मधुर संजीवनी सुधा से जीवित रखता है, क्षात्र तेज शांत ब्रह्मतेज की रक्षा करता है। क्षात्र तेज के बिना ब्रह्मतेज अंधकार के भाव से दबकर शूद्र के घटिया गुणों को सहारा देता है, इसलिये जिस देश में क्षत्रिय न हों उस देश में ब्राह्मण का रहना निषिद्ध है। अगर क्षत्रिय वंश का लोप हो जाये, तो नये क्षत्रियों की सृष्टि करना ब्राह्मण का पहला कर्तव्य है। ब्रह्मतेज-रहित क्षात्र तेज दुर्दान्त, उद्दाम, आसुरिक बल में बदलकर पहले दूसरों के हित को नष्ट करने की कोशिश करता है, और अन्त में स्वयं नष्ट हो जाता है। रोमन कवि ने ठीक ही कहा है कि असुर अपने ही बल के अतिरेक से पतित होकर, जड़ के साथ नष्ट हो जाते हैं। सत्त्व रजस् को पैदा करे, रजस् सत्त्व की रक्षा करे, सात्त्विक कार्य में लगे, तभी व्यक्ति और राष्ट्र का मंगल संभव है। सत्त्व अगर रजस् को ग्रस ले, रजः अगर सत्त्व को ग्रस ले तो तम के उत्पन्न होने से विजयी गुण अपने-आप पराजित हो जाते हैं और तमोगुण का राज्य हो जाता है। ब्राह्मण कभी राजा नहीं बन सकता, क्षत्रिय का नाश होने पर शूद्र राजा बनेगा, ब्राह्मण तामसिक होकर, धन के लोभ में आकर ज्ञान को बिगाड़ कर शूद्र का दास बन जायेगा, आध्यात्मिक भाव निश्चेष्टता को पोसेगा और खुद मुरझाकर धर्म के पतन का कारण बनेगा। क्षत्रिय के बिना शूद्र द्वारा शासित राष्ट्र निश्चित रूप से दासता को प्राप्त होता है। भारत की यही अवस्था हुई। दूसरी ओर आसुरिक बल के प्रभाव से उसके अंदर क्षणिक शक्ति का संचार या महत्त्व की प्राप्ति तो हो सकती है लेकिन, जल्दी ही दुर्बलता और ग्लानि आ जाती है, शक्ति का ह्रास होकर, देश अवसाद में डूब जाता है या फिर राजनीतिक विलास, दंभ और स्वार्थ के बाहुल्य से राष्ट्र अनुपयुक्त होकर, महत्त्व की रक्षा करने में असमर्थ हो जाता है या, आंतरिक विरोध, दुर्नीति और अत्याचार से देश क्षत-विक्षत होकर शत्रु का सुलभ शिकार बन जाता है। भारत और यूरोप के इतिहास

में इन सब परिणामों के कई दृष्टांत मिलते हैं।

महाभारत के समय आसुरिक बल के भार से पृथ्वी अस्थिर हो चली थी। भारत में ऐसे तेजस्वी, पराक्रमी, प्रचंड क्षत्रियतेज का विस्तार न तो उससे पहले ही कभी हुआ और न बाद में ही हुआ। लेकिन उस भीषण बल के सदुपयोग की संभावना बहुत ही कम थी। जो लोग इस बल के आधार थे वे सभी आसुरिक प्रकृति के थे—अहंकार, दर्प, स्वार्थ, स्वेच्छाचार उनकी मज्जा में बसा था। अगर श्रीकृष्ण इस बल का नाश कर, धर्मराज्य की स्थापना नहीं करते तो जिन तीन तरह के परिणामों के बारे में कहा गया है उनमें से एक-न-एक जरूर घटता। असमय, भारत म्लेच्छों के हाथों जा गिरता। यह याद रखना चाहिये कि पांच हजार वर्ष पहले कुरुक्षेत्र का युद्ध हुआ था, ढाई हजार वर्ष बीत जाने पर म्लेच्छों का पहला सफल आक्रमण सिन्धु नदी के दूसरे पारतक पहुंच पाया था। इस तरह अर्जुन ने जिस धर्मराज्य की स्थापना की थी उसने इतने दिन ब्रह्मतेज से अनुप्राणित क्षात्रतेज के प्रभाव से देश की रक्षा की। उस समय भी देश में संचित क्षात्रतेज इतना था कि उसके टूटे हुए अंश ने ही देश को और दो हजार वर्षोंतक बचाये रखा। चंद्रगुप्त, पुष्यमित्र, समुद्रगुप्त, विक्रम, संग्रामसिंह, प्रताप, राजसिंह, प्रतापादित्य, शिवाजी इत्यादि महापुरुषों ने उसी क्षात्रतेज के बल से देश के दुर्भाग्य के साथ युद्ध किया। अभी उसी दिन तो गुजरात के युद्ध और लक्ष्मीबाई की चिता में उसकी अंतिम चिंगारी बुझी है। उस समय श्रीकृष्ण के राजनीतिक कार्य का सुफल और पुण्य क्षीण हो गया। भारत और जगत् की रक्षा करने के लिये भारत में फिर से पूर्णावतार की आवश्यकता हुई। वे अवतार फिर से उस लुप्त ब्रह्मतेज को जगा गये, वही ब्रह्मतेज क्षात्रतेज पैदा करेगा। श्रीकृष्ण ने भारत के क्षात्रतेज को कुरुक्षेत्र के रक्त-समुद्र में बहा नहीं दिया बल्कि आसुरिक बल का विनाश करके, ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज दोनों की रक्षा की। आसुरिक बल से चूर क्षत्रिय वंश का संहार कर, उन्होंने उद्दाम रजःशक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया, यह बात सच है। इस प्रकार की महाक्रांति या अंतर्विरोध का उत्कट भोग द्वारा क्षय करके निग्रह करना, उद्दाम क्षत्रिय कुल का संहार करना, हमेशा अनिष्टकर

नहीं होता। अंतर्विरोध से रोमन क्षत्रिय कुल का नाश और राजतंत्र की स्थापना से रोम का विराट् साम्राज्य असमय ही विनाश का ग्रास होने से बच गया। इंग्लैण्ड में श्वेत और रक्त गुलाबदल के अंतर्विरोध द्वारा क्षत्रिय कुल का नाश होने से चौथे एडवर्ड, आठवें हेनरी और रानी एलिजाबेथ सुरक्षित, पराक्रमी, विश्वविजयी आधुनिक इंग्लैंड की नींव स्थापित कर सके थे, कुरुक्षेत्र के युद्ध में भारत की भी उसी तरह रक्षा हुई।

कलियुग में भारत की अवनति हुई है इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। लेकिन अवनति ले आने के लिये भगवान् कभी पृथ्वी पर नहीं उतरते। धर्म-रक्षा, विश्व-रक्षा, लोक-रक्षा के लिये ही अवतार आते हैं। विशेष रूप से कलियुग में ही भगवान् के पूर्ण रूप से अवतीर्ण होने का कारण यह है कि कलि में मनुष्यों की अवनति का अधिक भय रहता है, अधर्म का बढ़ना स्वाभाविक हो जाता है, इसलिये मानवजाति की रक्षा करने के लिये, अधर्म के नाश और धर्म की स्थापना करने के लिये, कलि की गति को रोकने के लिये इस युग में वे बार-बार अवतार लेते हैं। जब श्रीकृष्ण ने अवतार लिया तो कलि के राज्य का आरंभ हो चुका था। उनके आविर्भाव से भयभीत होकर ही कलि अपने राज्य में पदार्पण नहीं कर सका, उन्हींके प्रसाद से परीक्षित ने कलि को पांच गांव दान में देकर उसीके युग में उसके एकाधिपत्य को रोक दिया। जिस कलियुग में आदि से लेकर अंततक कलि के साथ मनुष्य का घोर संग्राम चल रहा है और चलता रहेगा, उस संग्राम के सहायक और नायक के रूप में भगवान् के अवतार और उनकी विभूतियां कलि में बार-बार आती हैं, उस संग्राम के आवश्यक तत्त्व, ब्रह्मतेज, ज्ञान, भक्ति, निष्काम कर्म की शिक्षा देने और रक्षा करने के लिये काल के आरंभ में उन्होंने मानव शरीर धारण किया था। भारत की रक्षा ही मानव कल्याण का आधार और उसका आशास्थल है। भगवान् ने कुरुक्षेत्र में भारत की रक्षा की। उस रक्त-समुद्र के नवीन जगत् पर लीला के पंकज पर कालरूपी विराट् पुरुष ने विहार करना आरंभ किया।

द्वितीय अध्याय

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

संजय ने कहा—

अर्जुन की दया के आवेश, अश्रुपूर्ण दो नेत्र और विषण्ण भाव को देख कर मधुसूदन ने उसे यह उत्तर दिया।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

भगवान् ने कहा—

हे अर्जुन! ऐसे संकट के समय, अनार्य द्वारा मान्य, स्वर्ग-पथ में बाधा देनेवाली यह अकीर्तिकर मन की मलिनता कहां से आ गयी?

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥३॥

"हे पृथातनय! हे शत्रु के दमन में समर्थ! नपुंसकता का आश्रय मत लो, यह तुम्हारे लिये एकदम अनुचित है। मन की इस क्षुद्र दुर्बलता को त्याग दो, उठो।"

श्रीकृष्ण का उत्तर

श्रीकृष्ण ने देखा कि अर्जुन दया से घिर गये हैं, विषाद ने उन्हें ग्रस लिया

है। इस तामसिक भाव को दूर करने के लिये अंतर्यामी ने अपने प्रिय सखा का क्षत्रियोचित तिरस्कार किया, जिससे शायद राजसिक भाव जगकर तमस् को दूर कर दे। उन्होंने कहा, देखो, यह तुम्हारे अपने पक्ष के लिये संकटकाल है, अभी अगर तुम शस्त्र का त्याग कर दोगे तो एकदम विपत्ति में पड़ जाने और नष्ट हो जाने की संभावना है। युद्धक्षेत्र में अपने पक्ष का त्याग करने की बात तुम्हारे जैसे श्रेष्ठ क्षत्रिय के मन में नहीं उठनी चाहिये। कहां से अचानक यह दुर्मति आ गयी ? तुम्हारा विचार दुर्बलता से भरा, पाप से भरा है। अनार्य इस विचार की प्रशंसा करते हैं, इसके वश में होते हैं, लेकिन आर्य के लिये यह अनुचित है, इससे परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति में विघ्न पैदा होता है और पृथ्वी पर यश और कीर्ति का लोप हो जाता है। इसके बाद उन्होंने और भी मर्मभेदी तिरस्कार किया। यह विचार नपुंसकात्मक है। तुम श्रेष्ठवीर हो, विजेता हो, तुम कुन्ती के पुत्र हो और तुम ऐसी बात कहते हो ? प्राण की इस दुर्बलता का त्याग करो, उठो। अपने कर्तव्यकर्म में लगो।

करुणा और दया

करुणा और दया दो स्वतंत्र विचार हैं, यहांतक कि करुणा दया का विरोधी भाव भी हो सकती है। हम दया के वश में आकर जगत् का कल्याण करते हैं, मनुष्य के दुःख, जाति के दुःख, दूसरे के दुःख को मिटाते हैं। अगर हम अपना दुःख या किसी व्यक्ति विशेष के दुःख को न सह सकने के कारण भलाई के उस मार्ग से पीछे हट जायें तो इसका मतलब यह होगा कि हमारे अंदर दया नहीं करुणा का आवेश उठा है। संपूर्ण मानवजाति और देश के दुःख को दूर करने के लिये जब हम उठें तो वह दया का भाव होता है। रक्तपात के भय से, प्राण की हिंसा के भय से जब उस पुण्य काम से दूर हट जाते हैं, जगत् के, राष्ट्र के, दुःख के बने रहने में हामी भरते हैं तो यह करुणा का भाव होता है। मनुष्य के दुःख से दुःखी होकर, दुःख को दूर करने की जो प्रबल वृत्ति होती है उसे दया कहते हैं। दूसरे के दुःख

की चिंता या दूसरे का दुःख देखकर कातर होने को करुणा का भाव कहते हैं। कातरता दया नहीं, करुणा है। दया बलवान् का धर्म है जब कि करुणा दुर्बल का धर्म है। दया के आवेश में बुद्धदेव स्त्री, पुत्र, माता-पिता, बंधु-बांधवों को दुःखी और एकदम से असहाय छोड़कर जगत् का दुःख दूर करने के लिये निकल पड़े। तीव्र दया के आवेश में काली ने जगत्भर के असुरों का संहार कर, पृथ्वी को खून में डुबा करके, सबके दुःख को दूर किया। अर्जुन ने करुणा के आवेश में आकर शस्त्र छोड़ा था।

इस भाव की अनार्य प्रशंसा करते और इसका आचरण अनार्य ही करते हैं। आर्यशिक्षा उदार, वीरोचित, देवता की शिक्षा है। अनार्य मोह में पड़कर अनुदार भाव को धर्म कहकर उदार धर्म का त्याग करता है। अनार्य राजसिक भाव से ओत-प्रोत हो, अपना, अपने स्नेही, अपने परिवार या कुल का हित देखता है, वह महान् कल्याण नहीं देखता, करुणा द्वारा, धर्म से मुंह मोड़कर अपने-आपको पुण्यवान् कहकर गर्व करता है और कठोर व्रतवाले आर्य को निष्ठुर और अधार्मिक कहता है। अनार्य तामसिक मोह से मुग्ध होकर अप्रवृत्ति को निवृत्ति कहता है और कामनाभरी पुण्यप्रियता को धर्मनीति के उच्चतम आसन पर बिठाता है। दया आर्य का भाव है और करुणा अनार्य का भाव।

पुरुष दया के वश में आकर वीरभाव से दूसरे के अमंगल और दुःख का नाश करने के लिये तत्पर रहता है। नारी दया के वश में आकर दूसरे के दुःख को कम करने के लिये सेवा, शुश्रूषा, देखभाल करने, दूसरों के हित की चिंता में समस्त जी-जान और शक्ति उंडेल देती है। जो करुणा के वश में आकर अस्त्र का त्याग करता है वह धर्म से मुंह मोड़ लेता है, रोने बैठ जाता है और यह सोचता है कि मैं अपना कर्तव्य कर्म कर रहा हूं, मैं पुण्यवान् हूं—वह है नपुंसक। यह क्षुद्र भाव है, यह विचार दुर्बलता है। विषाद कभी धर्म नहीं हो सकता। जो विषाद को पोसता है वह पाप को पोसता है। चित्त की इस गन्दगी का, इस अशुद्ध और दुर्बल भाव का त्याग करके, युद्ध में प्रवृत्त होकर, कर्तव्य पालन से जगत् की रक्षा करना, धर्म की रक्षा करना, पृथ्वी के भार को हल्का करना ही श्रेय है। यही श्रीकृष्ण की इस उक्ति का मर्म है।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥४॥

अर्जुन ने कहा,—

"हे मधुसूदन, हे शत्रुनाशक, मैं भला किस तरह भीष्म और द्रोण का युद्ध में सामना कर, उन पूज्य गुरुजन के विरुद्ध अस्त्र चलाऊंगा ?

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

इन उदारचेता गुरुजनों का वध न करके पृथ्वी पर भिखारी बनकर रहना ज्यादा अच्छा है। अगर मैं गुरुजन का वध करूं तो धर्म और मोक्ष खोकर केवल अर्थ और काम का भोग करूंगा, वह भी रक्तरंजित विषयभोग जो पृथ्वी पर ही भोग्य है और प्राणत्याग तक बना रहता है।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

इसलिये हम यह नहीं समझ पा रहे कि हमें किसकी अधिक चाह हो। जिनको मार डालने से हमारे जीने की कोई इच्छा नहीं रह जायेगी, वे ही विपक्षी सेना के अग्रभाग में खड़े हैं, धृतराष्ट्र के पुत्रों के सेनानायक हैं।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

मेरा क्षत्रिय स्वभाव दीनता के दोष से अभिभूत हुआ जा रहा है, धर्म अधर्म के संबंध में मेरी बुद्धि चकरा गयी है, इसीलिये मैं आपसे पूछता हूं कि किसमें श्रेय होगा यह बात निश्चित रूप से बताइये, मैं आपका शिष्य हूं, आपकी शरण में आया हूं, मुझे शिक्षा दीजिये।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

क्योंकि पृथ्वी पर एकछत्र राज्य और देवताओं के ऊपर अधिकार प्राप्त कर लेने पर भी यह शोक मेरी सारी इन्द्रियों का तेज सोख लेगा, इस शोक को दूर करने का कोई उपाय मुझे नहीं दीखता।''

शिक्षा के लिये अर्जुन की प्रार्थना

श्रीकृष्ण ने जो कहा उसे अर्जुन समझ गये और तब उन्होंने राजनीतिक आपत्ति नहीं उठायी। लेकिन और जो-जो आपत्तियां थीं, उनका उत्तर न पाकर वे शिक्षा पाने श्रीकृष्ण की शरण में गये। उन्होंने कहा, "मैं स्वीकार करता हूं कि मैं क्षत्रिय हूं, दया-वश महान् कार्य से पीछे हटना मेरी नपुंसकता का ही सूचक है, मेरे लिये अकीर्तिकर और धर्म के विरुद्ध है। लेकिन न मन मानता है न प्राण। मन कहता है गुरुजन की हत्या करना महापाप है, अपने सुख के लिये गुरुजन की हत्या करने से अधर्म में गिरकर धर्म, मोक्ष, परलोक, जो कुछ वांछनीय है सब चला जायेगा। कामना तृप्त होगी, धन की इच्छा तृप्त होगी लेकिन वह कितने दिनों के लिये ? अधर्म से प्राप्त भोग प्राणत्याग तक बना रहता है, उसके बाद अकथनीय दुर्गति होती है। और जब भोग करूंगा तो उस भोग में गुरुजन के रक्त का स्वाद

पाकर कौन-सा सुख या शांति मिलेगी ? प्राण कहता है, ये सब हमारे प्रियजन हैं, इनकी हत्या करके मैं इस जन्म में फिर कोई सुख नहीं भोग सकूंगा। मैं जीवित रहना भी नहीं चाहता। आप चाहे मुझे पूरी पृथ्वी के साम्राज्य का उपभोग करने दें या स्वर्ग पर विजय पाकर, इंद्र का ऐश्वर्यभोग प्रदान करें, मैं नहीं मानूंगा। जो शोक मुझे धर दबायेगा उससे मेरी सभी कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां अभिभूत और अवसन्न होकर अपने-अपने कार्य में शिथिल और असमर्थ हो जायेंगी, तब आप किस सुख का भोग करेंगे ? मेरे अस्थिर चित्त में दीनता आ गयी है और महान् क्षत्रिय स्वभाव इस दीनता में डूब गया है। मैं तुम्हारी शरण में आ गया हूं। मुझे ज्ञान, शक्ति, श्रद्धा दो, श्रेय का पथ दिखाकर मेरी रक्षा करो।"

संपूर्ण रूप से भगवान् की शरण लेना ही गीता में कहे गये योग का पथ है। इसीको आत्मसमर्पण या आत्म-निवेदन कहते हैं। जो भगवान् को गुरु, प्रभु, सखा, पथप्रदर्शक मानकर दूसरे सभी धर्मों की जलांजलि देने के लिये तैयार हैं, पाप-पुण्य, कर्तव्य-अकर्तव्य, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, मंगल-अमंगल का विचार न करके, अपने ज्ञान, कर्म और साधना का संपूर्ण भार श्रीकृष्ण के अर्पण कर देते हैं, वे गीता में कहे गये योग के अधिकारी हैं। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा, आप अगर गुरुहत्या करने के लिये भी कहें, तो मुझे यह समझा दीजिये कि यह धर्म और कर्तव्यकर्म है, मैं वही करूंगा। इस गभीर श्रद्धा के बल पर अर्जुन उस समय के सभी महापुरुषों को लांघ कर गीता में बतायी शिक्षा के श्रेष्ठ पात्र के रूप में चुने गये।

उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण ने पहले अर्जुन की दो आपत्तियों का खंडन किया, फिर गुरु का दायित्व ग्रहण करके, उन्होंने सच्चा ज्ञान देना शुरू किया। अड़तीस श्लोकों तक आपत्तियों का खंडन किया है, उसके बाद गीता में कही शिक्षा का आरंभ होता है। लेकिन आपत्ति के खंडन में कई अमूल्य शिक्षाएं मिलती हैं जिन्हें बिना समझे गीता की शिक्षा को हृदयंगम नहीं किया जा सकता। इन कुछ बातों की विस्तृत व्याख्या करना आवश्यक है।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥९॥

संजय ने कहा,—

परंतप गुडाकेश (अर्जुन) हृषीकेश (गोविन्द) से बोले, "मैं युद्ध नहीं करूंगा" और चुप हो गये।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥१०॥

श्रीकृष्ण ने कुछ मुस्कराते हुए दोनों सेनाओं के बीच स्थित दुःखी अर्जुन को यह उत्तर दिया।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥११॥

भगवान् ने कहा,—

जिनके लिये शोक करने का कोई कारण नहीं उनके लिये तुम शोक करते हो और ज्ञानी की तरह तात्त्विक विषयों पर वादविवाद करने की चेष्टा करते हो, लेकिन तत्त्वज्ञानी मृत या जीवित किसी के लिये भी शोक नहीं करते।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥१२॥

ऐसा भी नहीं है कि मैं पहले नहीं था या तुम नहीं थे या ये राजा नहीं थे, यह भी नहीं है कि हम सब देहत्याग करने के बाद फिर नहीं रहेंगे।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

जैसे इस जीव अधिष्ठित शरीर में बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था काल की गति से आती हैं वैसे ही दूसरी देहप्राप्ति भी काल की गति से होती है, इससे स्थिरबुद्धि ज्ञानी पुरुष चकराते नहीं।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

मृत्यु कुछ भी नहीं है, जिन विषय-स्पर्शों से सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख आदि संस्कार उत्पन्न होते हैं वे सब स्पर्श अनित्य हैं, आते-जाते रहते हैं, अविचलित रहकर उन सब को ग्रहण करने का अभ्यास करो।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

जो स्थिरबुद्धि पुरुष इन स्पर्शों को भोगकर भी दुःखी नहीं होते, इनके द्वारा पैदा हुए सुख-दुःख को समभाव से ग्रहण करते हैं, वे ही मृत्यु को जीतने में समर्थ होते हैं।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

जो असत् है उसका अस्तित्व नहीं होता, जो सत् है उसका विनाश नहीं

होता, फिर भी सत् और असत् दोनों का अंत होता है, तत्त्वदर्शियों ने इसका दर्शन किया है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हति॥१७॥

परंतु जिसने समस्त दृश्य जगत् का अपने अंदर विस्तार किया है उस आत्मा का क्षय नहीं होता, कोई उसका ध्वंस नहीं कर सकता।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्मात् युद्धस्व भारत॥१८॥

हमेशा देह पर आश्रित आत्मा के इन सब शरीरों का अंत है, आत्मा असीम और अनश्वर है, इसलिये हे भारत, युद्ध करो।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्॥
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥१९॥

जो आत्मा को मारनेवाला कहते हैं और जो देह के नाश पर आत्मा को मरा हुआ समझते हैं वे दोनों ही चकराये हुए हैं, ज्ञानहीन हैं, यह आत्मा न हत्या करती है और न कभी मरती है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥२०॥

इस आत्मा का जन्म नहीं, मृत्यु नहीं, इसका न कभी उद्भव हुआ और

न कभी लोप होगा। यह जन्मरहित है, नित्य है, सनातन है, पुरातन है, देहनाश होने पर मरती नहीं।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥२०॥

जो इसे नित्य, अनश्वर और अक्षय जानते हैं, वह पुरुष कैसे किसी की हत्या करते या कराते हैं ?

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥२१॥

जैसे मनुष्य फटे वस्त्र उतार नया वस्त्र पहनता है वैसे ही जीव पुरानी देह छोड़, नयी देह का आश्रय लेता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥२३॥

शस्त्र इसे नहीं छेद सकते, आग जला नहीं सकती, जल भिगो नहीं सकता, वायु सुखा नहीं सकती।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२४॥

आत्मा को छेदा नहीं जा सकता, इसे जलाया, भिगाया या सुखाया नहीं जा सकता। यह नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य और विकाररहित है। आत्मा को इस रूप में जानकर शोक करना छोड़ दो।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यते मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

और यदि तुम यह मानते हो कि जीव बार-बार जन्म लेता और मरता है, फिर भी उसके लिये शोक करना उचित नहीं है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

जिसका जन्म होता है, उसकी निश्चय ही मृत्यु होती है, जिसकी मृत्यु होती है, उसका निश्चय ही जन्म होता है, इसलिये जब मृत्यु ऐसा परिणाम है जिससे बचा नहीं जा सकता तो उसके लिये शोक करना अनुचित है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना ॥२८॥

सभी प्राणी शुरू में अव्यक्त होते हैं, मध्य में व्यक्त होते हैं और फिर अंत में अव्यक्त होते हैं, इस स्वाभाविक क्रम में शोक करने का कोई कारण ही नहीं है।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

आत्मा को कोई आश्चर्य के रूप में देखता है, कोई आश्चर्य कहकर उसके विषय में बोलता है, कोई आश्चर्य समझकर इसके बारे में सुनता है, किन्तु सुनकर भी कोई आत्मा को जान नहीं पाता।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

आत्मा हमेशा सबकी देह में अवध्य होकर रहती है, इसलिये इन सब प्राणियों के लिये शोक करना उचित नहीं है।

मृत्यु की असत्यता

अर्जुन की बात सुनकर श्रीकृष्ण के मुंह पर हंसी की झलक दिखायी दी, वह हंसी रंगमय यानी प्रसन्नतापूर्ण थी—अर्जुन के भ्रम में मानवजाति के पुराने भ्रम को पहचानकर अंतर्यामी हंस पड़े—यह श्रीकृष्ण की ही माया से उत्पन्न भ्रम है, जगत् में अशुभ, दुःख और दुर्बलता का योग और संयम द्वारा क्षय करने के लिये ही उन्होंने मानव को इस माया के वशीभूत किया। प्राण की ममता, मरने का डर, सुख-दुःख की अधीनता, प्रिय और अप्रिय बोध इत्यादि अर्जुन की बातों से झलकता था, इसी अज्ञान को मनुष्य की बुद्धि से दूर करके जगत् को अशुभ से मुक्त करना जरूरी था, इसी शुभ कार्य के लिये, अनुकूल अवस्था लाने के लिये श्रीकृष्ण आये थे, गीता को प्रकट करने जा रहे थे। लेकिन पहले अर्जुन के मन में जो भ्रम उत्पन्न हुआ था उसका भोग द्वारा क्षय करना आवश्यक था। अर्जुन श्रीकृष्ण के सखा थे, मानवजाति के प्रतिनिधि थे, उन्हींके सामने गीता को प्रकट करना था, वही श्रेष्ठ पात्र थे, लेकिन मानवजाति अभी तक गीता का अर्थ ग्रहण करने के योग्य नहीं बनी थी, अर्जुन भी उसके संपूर्ण अर्थ को ग्रहण नहीं कर पाये। जो शोक, दुःख और कातरता उनके मन में उठे थे, उसे मानवजाति

कलियुग में पूरी तरह से भोगती आ रही है, ईसाई धर्म प्रेम से, बौद्ध धर्म दया से, इस्लाम धर्म शक्ति से इस दुःखभोग को कम करने में लगे हैं, आज कलियुग में सत्ययुग के पहले खंड का आरंभ होगा, भगवान् फिर से भारत को, कुरुजाति के वंशधरों को गीता प्रदान कर रहे हैं, अगर वे उसे ग्रहण करने, धारण करने में समर्थ हों तो भारत का मंगल, जगत् का मंगल इसका सुनिश्चित फल है।

श्रीकृष्ण ने कहा, अर्जुन तुम पंडितों की तरह पाप-पुण्य का विचार कर रहे हो, जीवन-मरण के तत्त्व की बात कर रहे हो, जाति का कल्याण और अकल्याण किससे होता है इस बात को समझाने की कोशिश कर रहे हो, लेकिन तुम्हारी बातों से सच्चे ज्ञान का परिचय नहीं मिल रहा, बल्कि तुम्हारी हर बात बहुत अज्ञानपूर्ण है। साफ-साफ यह कहो कि मेरा हृदय दुर्बल है, शोक से कातर है, बुद्धि कर्तव्य से मुंह मोड़े है, ज्ञान की भाषा में अज्ञेय का तर्क करके अपनी दुर्बलता का समर्थन करने की कोई आवश्यकता नहीं। हर मनुष्य के हृदय में शोक उत्पन्न होता है। मनुष्यमात्र के लिये मृत्यु और विच्छेद बहुत भयंकर, जीवन बहुत मूल्यवान्, शोक असह्य, कर्तव्य एक कठोर वस्तु होता है, मनुष्य अपने स्वार्थ की सिद्धि को मधुर जानकर हर्षित होता है, दुःख मानता है, हंसता है, रोता है, लेकिन इन सभी वृत्तियों को कोई ज्ञान से उत्पन्न वृत्तियां नहीं कहता। जिन लोगों के लिये शोक करना अनुचित है उन्हींके लिये तुम शोक कर रहे हो। ज्ञानी किसीके लिये शोक नहीं करता—न मृत व्यक्ति के लिये, न जीवित के लिये। वे इस बात को जानते हैं कि न मृत्यु है, न विच्छेद है, न दुःख ही है, हम अमर हैं, हम चिरकाल से एक हैं, हम आनंद की संतान हैं, अमृत-संतान हैं, जीवन-मरण के साथ, सुख-दुःख के साथ इस पृथ्वी पर लुका-छिपी खेलने आये हैं—प्रकृति के विशाल रंगमंच पर हंसने-रोने का अभिनय करते हैं, शत्रु और मित्र बनकर, युद्ध और शांति, प्रेम और कलह के रस का आस्वादन करते हैं। यह जो थोड़े समय के लिये बचे रहते हैं, कल-परसों देह त्याग कर कहां चले जायेंगे पता नहीं, यह हमारी अनंत क्रीड़ा में एक मुहूर्तमात्र, क्षणभर का खेल, कुछ ही क्षणों का प्रेम है। हम थे, हम हैं, हम

रहेंगे—सनातन, नित्य, अनश्वर—हम प्रकृति के ईश्वर हैं, जीवन-मरण के कर्ता भगवान् के अंश हैं, भूत, वर्तमान और भविष्य के अधिकारी हैं। जिस तरह शरीर की बाल्य, युवा और वृद्धावस्था होती है उसी तरह दूसरे शरीर की प्राप्ति बस एक नाम है, नाम सुनकर हम डरते हैं, दुःखी हो जाते हैं, चीज को अगर समझ पाते तो न डरते, न दुःखी होते। अगर हम बालक की यौवनप्राप्ति को मरण समझकर रोते हुए यह कहते कि ओह, हमारा वह प्रिय बालक कहां चला गया, यह युवा पुरुष वह बालक नहीं है, हमारा वह सोने का चांद कहां चला गया तो हमारे व्यवहार को सभी हास्यास्पद और घोर अज्ञानभरी बात कहेंगे। यह दूसरी अवस्था प्रकृति का नियम है, बालक और युवक के शरीर में एक ही पुरुष बाहरी परिवर्तनों से परे, स्थिरभाव में विराजमान है, ज्ञानी साधारण मनुष्य में मृत्यु का भय और मृत्यु का दुःख देखकर उसके इस व्यवहार को ठीक उसी तरह हास्यास्पद और घोर अज्ञानमय मानता है, क्योंकि देह बदलना प्रकृति का नियम है, स्थूलदेह और सूक्ष्मदेह में एक ही पुरुष बाह्य परिवर्तन से परे स्थिर भाव में विराजमान रहता है। हम अमृत की संतान हैं, कौन मरता है, कौन मारता है ? मृत्यु हमारा स्पर्शतक नहीं कर सकती—मृत्यु खोखला शब्द है, मृत्यु भ्रम है, मृत्यु नहीं है।

मात्रा

पुरुष अचल है, प्रकृति चल है। चल प्रकृति के अंदर अचल पुरुष स्थित है। प्रकृति में स्थित पुरुष पांच इंद्रियों के द्वारा जो कुछ देखता, सूंघता, स्वाद लेता, स्पर्श करता, उसीका भोग करने के लिये वह प्रकृति का आश्रय लेता है। हम रूप देखते हैं, शब्द सुनते हैं, गन्ध सूंघते हैं, इसका आस्वाद लेते हैं, स्पर्श का अनुभव करते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध—ये पांच तन्मात्राएं ही हैं इंद्रियभोग का विषय। छठी इंद्रिय मन का विशेष विषय है संस्कार। बुद्धि का विषय है चिंतन। पांच तन्मात्राओं, संस्कारों और चिंतन

का अनुभव करने, भोग करने के लिये ही पुरुष और प्रकृति का परस्पर संभोग और उनकी अनंत क्रीड़ा होती है। यह भोग दो तरह का है—शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध भोग में सुख-दुःख नहीं होता, पुरुष का चिरंतन स्वभाव-सिद्ध धर्म आनंद ही होता है। अशुद्ध भोग में सुख-दुःख होता है, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, हर्ष-शोक इत्यादि द्वंद्व अशुद्ध भोग को विचलित और विक्षुब्ध करते हैं। कामना अशुद्धता का कारण है। कामी-मात्र ही अशुद्ध है, जो निष्काम है, वह शुद्ध है। कामना से राग और द्वेष पैदा होते हैं, राग और द्वेष के वश में आकर पुरुष विषय में आसक्त होता है और आसक्ति का फल है बंधन। पुरुष इतना विचलित और विक्षुब्ध हो जाता है कि व्यथित और पीड़ित होने पर भी आसक्ति की आदत के दोष के कारण अपने क्षोभ, व्यथा या यंत्रणा के कारण को छोड़ने में असमर्थ होता है।

समभाव

श्रीकृष्ण ने पहले आत्मा की नित्यता का उल्लेख किया, फिर उन्होंने अज्ञान के बंधन को ढीला करने का उपाय बताया। मात्रा यानी विषय के नाना रूप हैं, स्पर्श, सुख, दुःख इत्यादि और ये ही द्वंद्व के कारण हैं। ये सभी स्पर्श अनित्य हैं, उनका आरंभ भी है और अंत भी। उन्हें अनित्य मानकर आसक्ति का परित्याग करना होता है। अगर हम अनित्य वस्तु से आसक्त हों तो उसके आने में खुश और उसके नाश या अभाव से दुःखी और पीड़ित होते हैं। इस अवस्था को अज्ञान कहते हैं। अज्ञान में अनश्वर आत्मा का सनातन भाव और यथार्थ आनंद छिप जाता है, हम केवल क्षणस्थायी भाव और वस्तु से मत्त हुए फिरते हैं, उनके नाश के दुःख से तो शोक के सागर में डूब जाते हैं। इस तरह अभिभूत न होकर जो विषय के सभी स्पर्शों को सह सकता है, यानी जो द्वंद्वों की प्राप्ति होने पर भी सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी, प्रिय-अप्रिय, मंगल-अमंगल, सिद्धि-असिद्धि, सबमें हर्ष शोक का अनुभव न करके उन्हें समान भाव से प्रफुल्लित चित्त से, हंसते हुए ग्रहण कर सकता

है वह पुरुष रागद्वेष से मुक्त हो जाता है, वह अज्ञान का बंधन काटकर सनातन भाव और आनंद को पाने में समर्थ होता है—*अमृतत्वाय कल्पते*।

समता का गुण

यह समता गीता की पहली शिक्षा है। समता ही गीता में कही गयी साधना का आधार है। यूनान के स्टोइक संप्रदाय ने भारत से समता की इसी शिक्षा को प्राप्त कर, यूरोप में समतावाद का प्रचार किया था। यूनानी दार्शनिक एपिक्यूरस ने श्रीकृष्ण द्वारा फैलायी शिक्षा का एक और छोर पकड़कर शांत भोग की शिक्षा (एपिक्यूरियेनिज़्म) या भोगवाद का प्रचार किया था। समतावाद और भोगवाद ये दो मत प्राचीन यूरोप के श्रेष्ठ नैतिक बल माने जाते थे और आधुनिक यूरोप में भी नया रूप धारण करके उन्होंने पवित्रतावाद (प्यूरीटेनिज़्म) और मूर्तिपूजावाद (पैगेनिज़्म) के चिर द्वंद्व को पैदा किया है। लेकिन गीता में बतायी गयी साधना में समतावाद और शांत या शुद्ध भोग एक ही बात है। समता कारण है और शुद्ध भोग कार्य। समता से आसक्ति मर जाती है, रागद्वेष शांत हो जाता है, आसक्ति के नाश और रागद्वेष के शांत होने से शुद्धता का जन्म होता है। शुद्ध पुरुष का भोग कामना और आसक्तिरहित होता है इसलिये शुद्ध होता है। इसी कारण समता का यह गुण है कि समता के साथ आसक्ति और रागद्वेष एक ही आधार पर नहीं रह सकते। समता ही शुद्धि का बीज है।

दुःख पर विजय

ग्रीक स्टोइक संप्रदाय ने यह गलती की कि वे दुःख पर विजय पाने के सच्चे उपाय को समझ नहीं पाये। उन्होंने दुःख को संयम द्वारा दबाकर, पांव से कुचलकर जीतने की कोशिश की। लेकिन गीता में एक जगह कहा

गया है—*प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति*? समस्त भूत अपनी-अपनी प्रकृति का अनुसरण करते हैं, निग्रह से क्या होगा? दुःख के निग्रह से मनुष्य का हृदय शुष्क, कठोर प्रेमशून्य हो जाता है। दुःख में आंसू नहीं बहाऊंगा, यंत्रणा के बोध को नहीं स्वीकारूंगा, 'यह कुछ नहीं है' कहकर चुपचाप सहन कर लूंगा, स्त्री का दुःख, संतान का दुःख, मित्र का दुःख, राष्ट्र का दुःख अविचलित चित्त से देखूंगा, इस प्रकार का भाव बल के गर्व में चूर असुर का तपस्या भाव है—इसका भी महत्त्व है, मानव की उन्नति के लिये इसकी भी आवश्यकता है, लेकिन यह दुःख पर विजय पाने का सच्चा उपाय नहीं है, अंतिम या चरम शिक्षा नहीं है। दुःख पर विजय पाने का सच्चा उपाय है ज्ञान, शांति और समता। शांत भाव से सुख-दुःख को ग्रहण करना ही सच्चा पथ है। प्राण में होनेवाले सुख-दुःख के संचार को नहीं रोकूंगा, बुद्धि अविचलित रखूंगा। समता का स्थान बुद्धि है, चित्त नहीं, प्राण नहीं। बुद्धि में समभाव होने से चित्त और प्राण अपने-आप समता पा लेंगे, और इस तरह प्रेम इत्यादि स्वाभाविक प्रवृत्तियां भी सूख नहीं जातीं, मनुष्य पत्थर नहीं बन जाता, जड़ या निर्जीव नहीं बन जाता—*प्रकृतिं यान्ति भूतानि*—प्रेम इत्यादि प्रवृत्तियां प्रकृति की शाश्वत प्रवृत्तियां हैं, उनके हाथ से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है परब्रह्म में लीन हो जाना। प्रकृति के अंदर रहकर प्रकृति का त्याग करना असंभव है। अगर कोमलता का त्याग करें तो कठोरता हृदय पर छा जायेगी—अगर बाहर के दुःख के स्पन्दन को पास न आने दें तो दुःख अंदर जमा रहेगा और अप्रकट रूप से हृदय को सुखा देगा। इस प्रकार के कष्टसाध्य उपाय से उन्नति की कोई संभावना नहीं होती। निश्चय ही ऐसी तपस्या से शक्ति तो प्राप्त होगी लेकिन इस जन्म में जिस चीज को दबाकर रखेंगे, दूसरे जन्म में वह सब बाधाओं को तोड़-फोड़कर दूने वेग के साथ उमड़ आयेगी।

हमारे प्रकाशन

माताजी और श्रीअरविन्द के बारे में :

बच्चों के श्रीअरविन्द —छोटे बच्चों के लिये	५.००
श्रीअरविन्द और उनका आश्रम	५.००
श्रीअरविन्द —जीवन और दर्शन	१८.००
माताजी —एक झलक	१२.५०
श्वेत कमल (नया संस्करण) — माताजी का परिचय ...	४५.००
लाल कमल — श्रीअरविन्द का परिचय	१००.००
लाल कमल (सजिल्द)	१२५.००
माताजी और श्रीअरविन्द अपने बारे में	३.००
१५ अगस्त (स्वप्न और सिद्धियां) — १५ अगस्त के बारे में श्रीअरविन्द के कुछ वार्तालाप	५.००
हमारी मां	१०.००

श्रीअरविन्द की संस्कृत कृतियां :

सप्त चतुष्टय — साधनासंबंधी संस्कृत-सूत्र और अंग्रेजी व्याख्या का अनुवाद, श्रीअरविन्द का उपनिषद् और उनके मंत्र	४.००
भवानी भारती — भारत माता के बारे में संस्कृत काव्य, हिंदी अनुवाद सहित	१०.००

शिक्षासंबंधी माताजी और श्रीअरविन्द के लेख :

शिक्षा के आधार	५.००
शिक्षा के आयाम	६.००
नयी चेतना के लिये नयी शिक्षा	१५.००

भारतसंबंधी :

भारत मां की मांग — श्रीअरविन्द के वन्दे मातरम् में छपे राष्ट्रीयतापरक लेख	५.००

योगसंबंधी :

ध्यान	१०.००
गीता की भूमिका	१०.००
जगन्माता ...	४.००
कर्म — कर्म के बारे में माताजी और श्रीअरविन्द के कुछ लेख तथा आश्रम में कर्म का व्यावहारिक रूप	६.००
अतिमानसिक योग — पुराणीकृत सांध्य-वार्ताओं में से श्रीअरविन्द के साथ योगसंबंधी बातचीत	६.००
श्रीअरविन्द — शाश्वत के प्रतिनिधि	२५.००
माताजी का पत्र-व्यवहार एक कार्यकर्ता से	१२.००
मनुष्य का मन	१६.००
योग के तत्त्व	१२.००
देवी-देवता	१५.००
ईशावास्योपनिषद् ...	यन्त्रस्थ
चिकित्सा — श्रीमां व श्रीअरविन्द के वचनों से संकलित	१५.००
माताजी के मंत्र वचन तथा प्रार्थना और ध्यान	२०.००
भय — कारण और उपचार	१७.००
प्रेम	११.००
अहंकार	१५.००
सत्य-आरोहण	१२.००
अवसाद पर विजय और आंतरिक शांति	१८.००
जीवन	१७.००
सूर्यालोकित पथ	३५.००

कारावास की कहानी	३०.००
उत्तरपाड़ा भाषण	३.००
आत्म-परिपूर्ति	२०.००
सांध्य-वार्ताएं	४५.००

प्रकीर्ण :

नर और नारी	. . .	२२.००
यायावर		५०.००

कहानियां जो कुछ और भी कहती हैं :

राजकुमार, महालक्ष्मी का अवतरण — दो प्रतीकात्मक नाटिकाएं	२.००
नया तराना	३.००

अंग्रेजी :

Evening Talks	125.00
Lectures on Savitri	20.00

गुजराती :

आपणा अम्बुभाई	४५.००

सम्पर्क सूत्र :

सम्पादक अग्निशिखा एवं पुरोधा

श्रीअरविन्द सोसायटी, पांडिचेरी — ६०५००२

Institute of Advanced
ACC NO...9960
DATE...14-12-2004

ISBN 81-7650-032-4

Library IIAS, Shimla.
H 294.184 1 Au 68 G
00099610

Rs. 25.00